इस सप्ताह दो ठेठ उर्दू और हिन्दी के (रेडिओ) नाटक और फीचर सुने, नाटक था। 'चन्द्रिका' लेखक हैं प्रेमकृष्ण, दोनों ही सुन्दर बन पड़े। संगीत से भी और कथा क्रम से भी, चन्द्रिका भारत के गौरवशाली अतीत की कहानी है। लेखक और पात्रों ने खूब प्रस्तुत की थी, पर, इस सम्बन्ध में एक महोदय की बात कहे बिना न रह सकूंगा। उन्होंने चन्द्रिका सुन कर कहा कि, "भई यह सब अगर कुछ आम फहम जुबान में हो तो ज्यादा मजा आए।" अब लीजिए भारत के उस काल की भाषा जब शायद उर्दू और फारसी का जन्म भी न हुआ था, वही हो तो चाहिए जिसे लोग हिंदोस्तानी कहते हैं। यह "आम फहम" भी एक ही शब्द है, जिसे जी चाहे कह दीजिए कि साहब यह तो "आम फहम" नहीं है। अब यह बात कैसे तय होगी कि जनता का अधिक भाग किसे समझता है और किसे नहीं, कोई बांट लेने का तो प्रश्न है नहीं। यदि कहीं मुगल काल के किसी नाटक में ऐसे साधारण शब्द जैसे 'समय' 'सवेरा' 'पधारिये' का प्रयोग हो जाए तो लोग तवे के बैंगन बन जाते हैं। साहब यह भी कोई बात है ? सारे का सारा माहौल-अर्थात वातावरण ही गलत था। गजब कर दिया कहां मुगल काल में ऐसे शब्द प्रयोग किए जाते थे।··· ···उस समय भी हिन्दी थी। लोग बोलते और लिखते थे, ऐसा नहीं था कि सारा का सारा देश ठेठ फारसी ही बोलता हो।

चन्द्रिका

चान्द्रिका

(ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित मौलिक उपन्यास)

लेखक

श्री प्रेमकृष्ण

१९५६] [मूल्य २॥)

"जिसने मुझे जन्म दिया, भाव दिए, भाषा दी, निज ममता से स्वदेश प्रेम का ज्ञान दिया, भारत की उसी एक सती नारी को"

प्रेमकृष्ण

अपनी बात

हिंदी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों की बहुत कमी है। वैसे तो अनेक लेखकों ने अनेकों काल की घटनाओं को लेकर उपन्यास लिखे हैं। लेकिन 'चन्द्रिका' में भारत के स्वर्ण काल की अंतिम झलक मिलती है। उस समय महान तथागत के धर्म का अवसान था। धर्म की चादर ओढ़कर व उसकी ओट में संसार के सब चक्र चलाए जाते थे।

श्री प्रेमकृष्ण जी ने बड़ी खूबी के साथ अपने प्रथम प्रयास में ही हिंदी साहित्य को 'चन्द्रिका' भेंट कर ऐतिहासिक उपन्यासों की लड़ी में एक मोती और पिरो दिया है।

'चन्द्रिका' के कई भाग नाटक के रूप में आल इंडिया रेडियो दिल्ली से खेले गए हैं। जिनको जनता ने बहुत पसंद किया है। आशा है कि 'चन्द्रिका' उपन्यास के रूप में पाठकों को और भी अधिक रुचेगी।

प्रकाशक

वक्तव्य

"चन्द्रिका" भारत के अतीत के गौरव की कहानी है। उपन्यास की प्रमुख घटना महाराज यशोवर्मन की मगध विजय है। यह महाधर्मों का अवसान काल था।

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने 'अशोक के फूल' नामक लेख में लिखते हैं, 'भगवान बुद्ध ने मार-विजय के बाद वैरागियों की पलटन खड़ी की थी। असल में 'मार' मदन का ही नामान्तर है। कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होंने दिया! पर न जाने कब यक्षों के वज्रपाणि नामक देवता इस वैराग्य- प्रवण धर्म में घुसे और बोधिसत्वों के शिरोमणि बन गए। फिर वज्रयान का अपूर्व धर्ममार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नों में मदन-देवता ने आसन पाया। वह एक अजीब आँधी थी। इसमें बौद्ध बह गए, शैव बह गए, शाक्त बह गए। उन दिनों 'श्री सुन्दरी साधनतत्पराणां योगाश्च भोगश्च करस्थ एवं, की महिमा प्रतिष्ठित हुई। काव्य और शिल्प के मोहक अशोक ने अभिचार में सहायता दी। मैं अचरज से इस योग और भोग की मिलन-लीला को देख रहा हूँ। कौन बताएगा कि कितने विध्वंस के बाद इस अपूर्व-धर्म की सृष्टि हुई थी ?"

चन्द्रिका और इतिहास में केवल इतना ही अंतर है जितना कि इतिहासकार और कथाकार में होता है। मैंने इतिहास प्रसिद्ध पात्रों को केवल उपन्यास की इतिहासिक पृष्ट-भूमि बनाने को ही चुना है। अंयथा मेरा उद्देश्य केवल देश-काल की परिस्थितियों और जनसाधारण, नर्तकी, भिक्षु, राजपाल, शाक्त, शैव और बौद्धों को लेकर उनका अंर्त-द्वंद्व दिखाना ही है। कथा का कथोपकथन, घटनाक्रम, निष्कर्ष आदि सब मेरे अपने हैं। श्रृंगार रस प्रधान है। परंतु मैंने उसका स्तर कहीं भी नीचा नहीं होने दिया है। जिसके कारण उपन्यास विद्यार्थी-

वर्ग और नवयुवक और नवयुवतियों के हाथों में निस्संकोच दिया जा सके। ज्ञान और सौंदर्य वही है जो कल्याणकारी हो ऐसी मेरी धारणा है।

मा भारती के इस अनन्त अपूर्व भण्डार के समक्ष जब मैं अपनी यह तुच्छ सी रचना लेकर खड़ा हुआ हूँ, तो कितना हीन और दीन दीख रहा हूँ, यह केवल आज ही समझ पाया हूँ। जहाँ मुझे धीरज और दीनता की आवश्यकता थी वहाँ मैंने उतावली और जल्दबाजी से काम लिया है। अतः गुरूजनों के आगे क्षमा प्रार्थी हूँ। आलोचकों के लिए कृतज्ञ हूँ तथा सहानुभूतिशील पाठकों का अत्याधिक आभारी।

उपन्यास के प्रकाशन में जो प्रेरणा और सहयोग मुझे श्री प्रेम-गोपाल मेहरा तथा श्री प्राणनाथ बावा और अन्य मित्रों से प्राप्त हुआ है उसके प्रति धन्यवाद देकर मैं मित्रता का महत्व घटाना नहीं चाहता। अंत में मुझे सहृदय पाठकों से यही कहना है कि जिस अनुभूति और सौंदर्य-सृजन का साहित्य में मैंने कार्य आरम्भ किया है उसका केवल अभी शतांश से भी बहुत कम पूरा कर पाया हूँ। यदि वास्तव में मुझे पाठकों की प्रेरणा का सम्बल मिल सका तो उनकी आशा के अनूरूप ही मेरा प्रयास बना रहेगा।

पूर्णिमा, रंगपर्व
२६ मार्च १९५६

प्रेमकृष्ण

१

***

महाराज हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद भारत में फिर एक बार अराजकता फैल गई। हर्ष के साम्राज्य का कोई चिन्ह बाकी न रहा हर्ष के जीवनकाल में ही दुर्लभवर्धन ने काश्मीर में कारकोट वंश की स्थापना करली। मैत्रिक राजाओं ने गुजरात में अपना स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिया। मगध पिछले गुप्त राजाओं की शक्ति का केन्द्र बन गया और इस वंश के आदित्यसेन नामक राजा ने अपने को बड़ा शक्तिशाली बना लिया। उसने ६७५ ई० के लगभग बंगाल को जीत लिया।

इस धर्म-परायण देश में सभी ओर पाप, पाखण्ड, ढोंग, व्यभिचार और अनाचार का राज्य फैल गया। देश रूढ़ि और प्रथाओं में बंध चुका था। बौद्ध, शैव और वैदिक धर्म अवनति के रसातल को पहुंच चुके थे। महा धर्मों के उस अवसान में सत्य कहीं लोप हो गया।

शिवपुरी काशी के निकट गंगा तट पर सारनाथ के एक बौद्ध विहार से अनेकों समधुर युवती-कण्ठों से उठा हुआ मन्त्र पाठ और "बुद्धं शरणं गच्छामि ! धर्मं शरणं गच्छामि ! संघं शरणं गच्छामि नमो अर्हताय ! नमो बुद्धाय ! जय तथागत ! जय भगवान बुद्ध !" का जयघोष नित्य सुनाई देता था। विहार में अनेकों नव मूर्तियां स्थापित हुई थीं और भित्ति चित्र अंकित किए गए थे जिनमें महात्मा बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाएं चित्रित की गई थीं।

विहार के पच्छिमी ओर एक सुन्दर उद्यान बना हुआ था जहाँ

आम्र के पेड़ों के झुरमुट के समीप ही संगमरमर का जल कुण्ड बना हुआ था और काषाय वस्त्र पहने हुए घुँघराले केशों वाला एक साधु पाषाण शिलाओं पर अपनी छैनी और हथौड़े से सुन्दर-सुन्दर सजीव मानव, पशु और पुष्पों की आकृतियाँ बना रहा था। उद्यान और विहार के चारों ओर पत्थर का ऊँचा परकोट घिरा हुआ था।

बूढ़ी, प्रौढ़ा, युवती, किशोरी सभी वयस की अनेकों भिक्षुणियाँ इधर-उधर घूमती हुई एक बड़े आयोजन के प्रबन्ध में लग रही थीं। आम्र के झुरमुट के निकट अचानक दो युवती कण्ठों से एक उन्मुक्त उल्लास से भरी हुई हास्य ध्वनि सुनाई दी। दो किशोर युवतियाँ आपस में बातें कर रही थीं। एक सखी ने दूसरी से कहा, "अरी चन्द्रिका तनिक सुन तो।"

"क्या है सखी?" दोनों भिक्षुणियाँ एक वृक्ष की ओट में छुप कर बैठ गईं।

"विहार में यह जो नया शिल्पी भगवान की नई प्रतिमा गढ़ने आया है, बड़ा अनोखा है।" प्रस्तरों की प्रतिमाओं के निर्माण में लगे हुए उस शिल्पी की ओर इशारा करते हुए धीमे स्वर में भिक्षुणी बोली, "इसने भगवान की ऐसी अनुपम प्रतिमा गढ़ी है कि जिसको देखने के लिए सामंत आदित्य स्वयं कल मठ में पधार रहे हैं। उनके ही सु-करों से इस प्रतिमा की स्थापना कल मठ में होगी। तभी तो यह उत्सव का आयोजन हो रहा है।"

सुनकर चन्द्रिका गम्भीर हो गई और एक गहरा उच्छ्वास भरते

हुए कुछ अनमने से स्वर में बोली, "न जाने कैसे इस शिल्पी ने भिक्षुणियों के विहार में घुसने की आज्ञा पाली है ?" अपने मुख पर छाए हुए भाव को छुपाने के लिए उसने अपना चन्द्र-मुख आकाश की ओर उठा लिया। नील गगन के दूर क्षितिज पर कहीं-कहीं काली घटाएं उठने लगी थीं। कमल की माला के समान एक श्वेत रंग के पक्षियों की पंक्ति उड़ती चली जा रही थी। "इस मठ में नर-मानव क्या नर-पक्षी भी पंख नहीं मार सकता। यदि मातेश्वरी ने उसे कभी देख पाया तो उसका यह अनुचित व्यवहार मृत्यु का कारण बन जाएगा।" पुनः एक निःश्वास छोड़ते हुए उसने कहा। उसके नव विकसित यौवन से उभरा वक्षस्थल उद्वेलित हो उठा था।

"नहीं चन्द्रिका सो बात नहीं है।" एक हर्ष से भरे हुए स्वर में अम्बिका बोली, "इसे तो स्वयं महा प्राण वाग्पाणिनि ने आम्र के उद्यान की शीतल छाया में बैठ कर मूर्ति गढ़ने को कहा है।

सुना है वैसा कुशल मूर्तिकार मगध में नहीं है इसलिए वह कान्यकुब्ज से बुलाया गया है।"

"क्या कान्यकुब्ज से......?" चन्द्रिका के नयनों में एक चमक सी आ गई। किसी स्वप्न में लीन सी वह अपने को सीमित न रख सकी और एकाएक अबाध गति से बोल उठी, "मेरी प्यारी सखी अम्बिका आज मैं तुझसे अपने मन की बात कह रही हूँ। तू मुझ पर दया करना और साथ ही आज रात को भगवान से मेरे पापों की क्षमा याचना भी करना।" अम्बिका के उघड़े हुए दक्षिण स्कन्ध के कोमल गात पर अपना कपोल टेक कर न जाने कौनसी व्यथा अथवा उल्लास के आँसू वह रो पड़ी। अपनी सुकुमारी सखी को बाँहों में लपेटते हुए अम्बिका झुँझला उठी, "याचना अर्चना सब कुछ करूँगी पर तू बोल तो सही ?"

ठेस लगते ही जिस भाँति मिट्टी का कच्चा घड़ा फूट जाता है, वह भी फूट पड़ी, "पहले पहल जिस दिन घुँघराले केशों से ढका हुआ

सौन्दर्य सुमन सा खिला उसका सौम्य मुख मैंने देखा तो हठात् मैं उसे देखती की देखती रह गई। वह अपनी कला की रचना में तल्लीन था। मगर सखी, मैं यह नहीं जान पाई कि उसकी दृष्टि इतनी पैनी है कि पास के जल कुंड में से वह मेरे मुख को ही निहारे जा रहा था।"

"सच ?" आश्चर्य चकित होकर अम्बिका अपनी सखी को वशीभूत नयनों से देखने लगी। परन्तु चन्द्रिका कहीं खोई सी उसके समक्ष खड़ी थी, उसके नयन पखेरू किसी अपरिमित आकाश की उड़ान भर रहे थे, "बिल-कुल सच अम्बिका, तुझ से झूठ नहीं बोलती, वह अचानक मुझे ही सम्बोधित करके बोल उठा," चन्द्रिका पुरुष कण्ठ से अभिनय करती हुई बोली, "आओ सुन्दरी ! आज सचमुच में मैंने भगवान के दर्शन किए हैं। सौंन्दर्य भगवान की एक किरण है। मेरी एक बात मान लो रूपसी ! तुम्हारा मुझ पर ही नहीं, समस्त विश्व पर उपकार होगा।' अम्बिका सचमुच ही उसने मेरे चरण अपने करों में बांध लिए, और इस भांति मुझ से प्रार्थना करने लगा," चन्द्रिका पुनः विनीत स्वर में अभिनय करती हुई कहने लगी, "हे योगनी ! एक बार मुझे अपने हाथों से इस रुप का श्रृंगार कर लेने दो ?"

"तो क्या उसने यह सब कुछ निःसंकोच कह दिया ?" विस्मय से अम्बिका ने पूछा।

"मैं अपनी ओर से कुछ नहीं बना रही हूं अम्बिका !" एक अभिनेत्री की भांति वह पुनः हाव भाव बना कर कहने लगी, "उसने

मुझे एक पक्षी की भांति पकड़ लिया और मेरे खुले हुये बालों की एक जटा बनाकर उसमें से छूटी हुई अनेकों अलकें और लटें मेरे मुख पर बखेर

दीं। साथ ही मेरे समस्त शरीर पर भगवान तथागत का काषाय वस्त्र लपेट दिया। वटवृक्ष की कल्पना में आम्र के वृक्ष के नीचे मुझे बिठा मेरे करतल में कल्याण भर दिया। न जाने कब तक वह यों ही मुग्ध नयनों से मुझे देखता रहा और मैं सुध बुध खोई उसे देखती रही। उसी दिन से, मैं जानती हूँ, मेरी वही छवि भगवान की अनेकों मूर्तियाँ बन गईं।" एक क्षण को वास्तव में चन्द्रिका एक अनुपम प्रतिमा बन गई। उसे विचलित करने को एक दम अम्बिका ने अपने दोनों हाथ जोड़ शीश झुका प्रणाम करते हुए गम्भीर वाणी में उच्चारण किया, "नमो बुद्धाय!"

चन्द्रिका भी अपनी सखी के उस सुन्दर अभिनय पर अपना उन्मुक्त हास्य न रोक सकी। उस उदास, शान्त गम्भीर विहार के वातावरण में उन अनजान भोली भिक्षुणियों की वह खिल खिलाती हुई हंसी दूर तक एक बार गूँज उठी। घोर गम्भीर कठोर के विपरीत मानव के कोमल कण्ठों से फूटा हुआ एक संगीत सा वह हास्य सर्वत्र बिखर गया।

जिस भाँति अहेरी का तीर सीधा पक्षी के हृदय में धंस जाता है। एक कर्कश स्वर ने उस हास्य को अपना लक्ष्य बना लिया।

"चन्द्रिका और अम्बिका! यह मूर्खों की भाँति हँसने और अनर्थक वार्तालाप करने का समय नहीं," मातेश्वरी ने एक क्रोध से कम्पित स्वर में चन्द्रिका को फटकारते हुए विहार कक्ष से बाहर निकल कर कहा, "भिक्षुणी चन्द्रिका आज फिर तूने इस भाँति अपने केश आकर्षक बनाए हैं और उनमें फूल पिरोए हैं। अनेक बार मैंने तुझे चेतावनी दी है कि भिक्षुणियों को श्रृंगार शोभा नहीं देता, उनका जीवन सात्विक और पवित्र होता है। उसमें वासना और विकार को स्थान नहीं। जा जितना शीघ्र हो भगवान से अपने कल्याण के लिए प्रार्थना कर!" एक प्रौढ़ और कठोर शासन के भावों से संयमित मातेश्वरी का मुख लाल हो गया था।

"क्षमा करो मातेश्वरी! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।" कहते

कहते चन्द्रिका ने अपनी कोमल ग्रीवा पर बने जूड़े को बखेर उसके सुन्दर फूल नोचकर फेंक दिए। उसके मुख पर लज्जा और क्षोभ के भाव स्पष्ट दिखाई दे रहे थे।

अपने को और भी अधिक संयमित और गम्भीर बनाते हुए मातेश्वरी ने कहा, "अच्छा इधर सुनो संध्या ढली जा रही है जितना शीघ्र हो सके विहार में दीपक प्रकाशित करो। जाओ!" आज्ञा देना मातेश्वरी का स्वभाव था। निर्मम नीरस उसका जीवन बीता था। संयम और नियम के जिस कठोर साँचे में उसने अपने आप को ढाल लिया था उसकी याद आते ही अब वह घबड़ा उठती थी। इसी लिए वह युवती और बालिका भिक्षुणियों से अपने आप को कुछ कुछ दूर ही रखना पसन्द करती थी। उसका एकांत और शांत कक्ष विहार के एक छोर पर था। यद्यपि उसे सभी किशोर भिक्षुणियों पर नियन्त्रण रखना पड़ता था। परन्तु अब वह एक नारी के स्थान पर यन्त्र से चालित हाड़ मास की एक चलती फिरती पुतली मात्र रह गई थी। उसके कठोर नीरस जीवन की छाप दूसरों के हृदय में एक कंपन सा उत्पन्न कर देती थी।

चन्द्रिका और अम्बिका को दीपक प्रकाशित करने का आदेश देकर मातेश्वरी पुनः अपने कक्ष की ओर लौट आई। खड़ाऊं की खट-खट में उसका प्रस्थान दूर तक और देर तक विहार में गूंजता रहा।

सामंत के स्वागत में विहार के कोने कोने को आज दीपमालिका से प्रकाशित किया जा रहा था। एक काँसी के थाल में दीपक सजाए हुए चन्द्रिका और अम्बिका विहार को जगमगाने का प्रयत्न कर रही थीं। यद्यपि प्रकाश से दोनों के मुख दीप्त हो रहे थे परन्तु फिर भी ऐसा प्रतीत होता था कि दोनों ही किसी गहन चिन्ता में लीन हों। पुनः एकान्त पाकर चन्द्रिका अम्बिका से बोल उठी, "प्यारी अम्बिका मृत्यु से पूर्व ही अपने को मार डालने वाले इस निर्वाण से तो कहीं

अच्छा होता कि मैं बंधनों में बंध जाती।" उसकी दृष्टि आम के उद्यान पर टिकी हुई थी, "एक बार अपने को विलीन और समर्पण कर देती। अनेकों बार जन्मती और मरती। मगर इस सब बनावट से कहीं अच्छा होता यदि मैं वह होती जो कुछ कि मैं हूँ—नृत्य से भरी हुई ऊषा की भाँति विश्व-गगन पर प्रति दिन मिटती और बनती। जीती और मरती।"

एक टक दृष्टि से अदृश्य में कुछ देखती हुई सी कठोर वाणी में अकस्मात अम्बिका बोल उठी, "जिस जीवन में सत्य नहीं वहाँ शाँति कैसे आ सकती है चन्द्रिका ? जहाँ स्वभाविकता नहीं वहाँ आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ? जहां आकर्षण नहीं वहाँ चित कैसे लग सकता है ? जब तक तृप्ति नहीं तब तक निर्वाण कैसे प्राप्त हो सकता है ?"

अम्बिका इतने क्लाँत स्वर में बोल रही थी मानों उसके हृदय में एक ज्वालामुखी धधक रहा हो। वह संसार के उन महान व्यक्तियों में से थी जो मानव की श्रेष्ठता के लिए अपने को तुच्छ समझकर चुपचाप ही बलिदान हो जाते हैं। जो सब कुछ सह लेते हैं पर कुछ कहते नहीं, उनसे कहा नहीं जाता, वह कह नहीं सकते। जो मुखरित हो उठता है वह दुःख भी गहरा नहीं होता। इसीलिए तो अम्बिका को आज तक विहार में कोई न जान पाया था। उसकी अपनी सखी चन्द्रिका भी उसे न जान पाई थी। वह चन्द्रिका के दुःख से दुःखी थी जिस भाँति गीत का साथ साज़ देता है। उतना ही विह्वल वह हो जाता है जितना कि दुःख भरा गीत। परन्तु गीत का दुःख मुखरित होता है, साज का मूक। उसी तरह अम्बिका के नारी हृदय की कहानी भी अकथनिय और अधूरी ही थी ? चन्द्रिका का कभी ध्यान भी उस ओर नहीं जा सका था कि पल भर वह अपने को भूलकर उसके हृदय की भी टोह ले ले। परन्तु उसके आज इन विषाद भरे शब्दों ने उसे चौंका दिया। इससे पूर्व कि वह अम्बिका से कुछ कह पाती, मातेश्वरी

की खड़ाऊँ का खट खट धीमा व गम्भीर स्वर निकट से निकटतर होता हुआ सुनाई देने लगा। दोनों को ही ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों वह कठोर पद चाप उनके हृदय को कुचलती हुई आगे बढ़ती आ रही हो। क्या संसार में कठोर और कोमल का संघर्ष अनन्त और अनादि नहीं है ?

"चन्द्रिका मेरे साथ आओ तुम्हारे लिए राजाज्ञा आई है।" चन्द्रिका को देखकर भरसक बनाए हुए स्नेहमय स्वर में मातेश्वरी बोली। आदेश के अनुसार सिर झुकाए हुए चन्द्रिका मातेश्वरी के पीछे पीछे उनके विश्राम-कक्ष की ओर चल पड़ी।

अम्बिका मूर्तिवत जहाँ की तहाँ खड़ी रही। दूर प्राची में बादल की गड़गड़ाहट उसे सुनाई दी। उसके शब्द से एक बार वह काँप सी उठी। प्रभजंन का एक ही झोंका इस विहार की सवाँरी हुई दीपिकाओं की समस्त आभा धूल में मिला सकता है। तूफान के पूर्व की एक गहरी निस्तब्धता सब ओर छाई हुई थी। उस निस्तब्धता में आम के कुंज में से उठती हुई हथौड़े और छैनी की "घन-घन" ध्वनि निरन्तर गूँज रही थी जिसमें लय संगीत और कैसा अजीब आकर्षण छिपा हुआ था। अम्बिका के नयन उमड़ आए। उसके हृदय में न जाने क्या कसक उठा था ? कौन जाने महाकाल का एक ही परिवर्तन 'घन घन' का यह निनाद और उसकी सखी के मन मयूर का चित्ताकर्षक नर्तन सभी कुछ आत्मसात करले। इस हरित वसना धरणी पर खिला हुआ जीवन एक सुन्दर खेल की भाँति सब क्षण भर में ही समाप्त हो जाए। न जाने कब तक वह खड़ी हुई अपने सीमित संसार के वातायन से अपरिमित आकाश को मुग्ध नयनों से देखती रही।

× × ×

आज चन्द्रिका को विश्राम-कक्ष में ले जाकर मातेश्वरी ने बड़ी ही आत्मीयता से घुल मिलकर अनेक बातें की और अन्त में

वह कहने लगी, "तुझे श्रृंगार अच्छा लगता है न ? क्यों न लगे आखिर वह तुझ पर खिलता भी तो है। मगर बेटी मेरा कहा सुना क्षमा कर देना। मैं तो केवल इस विहार की एक अनुचरी मात्र हूँ......।" अचानक मातेश्वरी का गला भर आया और वह सुबक सुबक कर रो पड़ी।

द्रवित कण्ठ से एकदम चन्द्रिका बोल उठी, "माता तुम को क्या दुःख है ? क्या इस धर्म-विहार में सभी दुःखी हैं ?" वह मातेश्वरी का गोद में अपना भारी हृदय लेकर लेट गई।

मातेश्वरी ने अपने आँसू पोंछ लिए और चन्द्रिका का गात सहलाते हुए उसे साहस सा देने लगी, "कुछ नहीं बेटी, कोई बात नहीं है। मैं भी कैसी मूर्ख हूँ कि एक बालिका के आगे ही रोने लगी। देख आज सामंत आदित्य ने आम के उद्यान में तुझे देख लिया है। उन्होंने ही तुझ जैसी कोमलाँगी के लिए यह रेशमी वस्त्र और आभूषण भेजे हैं।" एक वस्त्र और आभूषण से भरा हुआ थाल उसके आगे रखते हुए मातेश्वरी बोली, "चकित न हो. यह सब तेरे ही लिए है। राजाज्ञा है कि तू इन्हें धारण कर ले।"

चाँदी का थाल सोने के बहुमूल्य आभूषण और रेशमी पारदर्शक वस्त्र देखकर एक बार चन्द्रिका का हृदय धक से रह गया। एक अज्ञात आशंका से वह घबरा उठी, "मैं समझी नहीं मातेश्वरी आज तुम्हीं अपने मुख से भिक्षुणियों के स्वेत वस्त्र उतार कर इन रंगीन वस्त्रों को, जिनकी तुम इतनी निन्दा किया करती थीं, धारण करने की आज्ञा दे रही हो। क्या मुझ से कोई अपराध हो गया है, सो मैं अब भिक्षुणियों के वस्त्र धारण नहीं कर सकती। राज्य को भिक्षुणियों के वस्त्र से क्या सम्बन्ध है, जो वह ऐसी आज्ञाएँ देता है ?" चन्द्रिका एक प्रकार के आवेश और रोष में न जाने क्या, क्या कहती चली गई।

मातेश्वरी कुछ सहम कर बोली, "नहीं, नहीं चन्द्रिका राज्य ही

तो हम सब का पालन पोषण करता है। उस की आज्ञाओं की अवहेलना हम जन साधारण को शोभा नहीं देता। एक बात और भी है, पर वह किसी से कहने की नहीं इसी लिए तो तुझे यहाँ एकान्त में समझा रही हूँ कि आज सामन्त आदित्य मठ में निवास करेंगे, यद्यपि वह किसी भी धर्म में विश्वास नहीं करते हैं, तथापि इस मठ पर उनकी कृपा है। तेरा सौभाग्य है कि आज रात उनकी विशेष सेवा का भार तेरे सिर पर है। देखना भूलकर भी अपनी इस नश्वर सुंदर काया पर अभिमान न करना! *अन्यथा तेरी एक ही त्रुटि इस समस्तवि हार को विच्छृंखल* कर सकती है। यह गाँठ बाँध ले, कि सामन्त आदित्य के इंगित पर ही वारांगना की भाँति आज मगध की राजनीति नाच रही है। यदि तू चाहेगी तो तेरे भाग्य पर स्वर्ग की अप्सराएँ भी ईर्षा करने लगेंगीं।

एक दीर्घ श्वास भर कर चन्द्रिका बोली, "मैं सब समझ गई मातेश्वरी। मैं सब समझ गई"...अचेतन सी हो वह जहां बैठी थी वहीं लेट गई।

एक मुक्ति की श्वांस सी भर कर, प्रसन्नता भरे स्वर में बोलती मातेश्वरी उठ खड़ी हुईं, "बड़ी अच्छी है मेरी बिटिया। अब शीघ्रता से अपना शृंगार करले। हाँ, परन्तु याद रखना किसी को कानों कान भी इस बात का पता न हो। अब मैं जाती हूँ अभी मुझे और भी राज आदेश पालन करने हैं।"

"खट खट" गहर गम्भीर खड़ाऊँ के पग कहीं दूर चले गए। विलीन हो गए। मगर देर तक शांन्त विरक्त नः स्पृह विहार में गूँजते रहे।

२

***

आमों के झुरमुट में रूपहली चाँदनी बिखर रही थी। और खन-खन-खन-खन का पत्थर तोड़ने का स्वर निरन्तर गूंज रहा था। प्रतीत होता था कि आज शिल्पी कला के निर्माण में स्वयं को भूल गया है। शायद प्रकृति का सौन्दर्य नर्तन और जीवन की घनीभूत वेदना कुछ भी उसे विचलित न कर सकेगी। वह निरन्तर छैनी पर हथौड़ा चलाता जा रहा था कि कोई दबे पाँवों से उसके समीप आ खड़ा हुआ, "शिल्पी !! शिल्पी !!!" एक कोमल विह्वल युवती कण्ठ सुनाई दिया, "अरे सुनो। देखो मैं स्वयं तुम्हारे पास आई हूँ।"

मगर खन खन का वही स्वर निरन्तर चलता रहा। मानों शिल्पी के पास अपने सिवा दूसरों के लिए कोई अवकाश ही न हो।

"ओह। भगवान के वास्ते मेरी एक बात सुन लो, शिल्पी। कुछ देर को अपनी कला को भूल जाओ। इतने तल्लीन न बनो।"

"छोड़ो, मुझे छोड़ दो, अन्यथा मेरी अनमोल अनुभूति क्षाण हो जायगी। मेरी कल्पना मिट जाएगी। मेरे नयनों से भगवान की वह रूप छटा कहीं खो जाएगी। सर्व प्रथम मैं उसे पत्थर पर उतार लूँ फिर तुम से बात करूंगा।"

"नहीं नहीं बहुत विलम्ब हो जाएगा। मेरे पास इतना अवकाश नहीं है शिल्पी।"

"कौन हो तुम ? मेरे पैरों में ऐसे क्यों लोट रहे हो ? भिक्षुणी तुम ओह तुम्हरा यह स्पर्श और समर्पण तो फूलों से भी अधिक कोमल है।

मेरे चरणों पर कमल के फूलों का यह कैसा एक ढेर सा लग गया है ? भगवान। क्या इस आनन्द को सहन करने की मुझ में शक्ति भी है ?"

चरणों में बैठी हुई चन्द्रिका को अपने विशाल बाहु-पाशों में शिल्पी ने लपेट लिया। आत्मविस्मृति के सुखद आनन्द से वह झूम उठा। चन्द्रिका के हृदय की धक-धक स्पष्ट सुनाई दे रही थी। आंसू और उच्छ्वासों से भरी हुई एक रेशम की लच्छी की भांति वह प्रथम बार पुरुष के विशाल वक्षस्थल में सिमट कर रह गई।

"अब तो मैं तुम्हारे आश्रय में हूँ।" एक संतोष की स्वाँस भरती हुई वह बोली, "मेरे रूप की व्याख्या जी भर कर कभी भी कर लेना। मगर मेरी रक्षा का समय तो हाथ से ही निकला जा रहा है।" इतने में ही प्राची के आकाश को देख कर वह एक बार चौंक उठी, "भोर होने में अधिक देर नहीं है शिल्पी। देखो मठ की इस दीर्घकाय दीवाल के नीचे भागीरथी की पवित्र धारा बह रही है। जहाँ नौकाएं बंधी हैं। साथ ही बड़ी एक रस्सी धारा में लटक रही है। यदि शिल्पी साहस करके तुम मुझको रस्सी के द्वारा नौका तक उतार लो तो नौका से रात भर में हम इस विहार से बहुत दूर निकल जाएंगे।" एक ही से कंपित स्वर में चन्द्रिका बोलती चली गई।

परन्तु शिल्पी के मुख पर एक मधुर हास्य की रेखा चमक उठी। वह एक विनोद भरे स्वर में बोला, "वाह। स्वयं पलायन करने पर विवश कर रही हो। स्वयं ही राह दिखा रही हो, और स्वयं ही उपाय भी बता रही हो"—चन्द्रिका की विह्वलता देख कर लाख रोकने पर भी उससे अपनी हँसी न रुक सकी।

इधर चन्द्रिका की अधीरता भी सीमा लांघ रही थी। एक बार पुनः विवश और निराश स्वर में उसने बोलने का प्रयत्न किया, "ओह, बड़े नटखट हो शिल्पी। मेरे प्राण कण्ठ को आ रहे हैं, और तुम्हें विनोद सूझ रहा है।" एक पैनी दृष्टि से उसने शिल्पी को देखा। "तुम्हीं बोलो

एक अबला के सतित्व की रक्षा के लिए भी क्या तुम इतना कष्ट नहीं उठाओगे ? मैं तुम पर विश्वास करके आई हूँ शिल्पी निराश न करो, अन्यथा तुम्हारे देखते ही देखते में गंगा में कूद पड़ूंगी !" कहते न कहते वह परकोट की दिवाल पर चढ़ गई ।

परन्तु पल भर का विलम्ब किए बिना ही शिल्पी ने उसे पुनः पकड़ कर अपनी बाहों में उठा लिया । एक पल को उसमें सोया हुआ विवेक जाग उठा । उसने एक निर्मिम दृष्टि से उस विहार के नव निर्मित मन्दिर की ओर निहारा । एक गम्भीर स्वर आप ही आप उसके कण्ठ से फूट पड़ा, "ओह ! क्या यह बौद्ध विहार और धर्म-मठ अब इतने निरापद भी नहीं रहे कि जहां नारी के सतित्व की रक्षा भी हो सके । तब निश्चय ही भिक्षुणी मेरे साथ चलो और देख लो कि कलाकार का हृदय सौन्दर्य-मन्दिर है । इसमें तुम्हारी छवि भगवान की प्रतिमा के समान पवित्र बनी रहेगी।" एक बार उसने अपने बाहुपाश जिसमें कि चन्द्रिका को लपेट लिया था और भी कस लिया, भावावेश में वह पुनः कह उठा, "निश्चिन्त रहो चन्द्रिका, जरा कस कर तुम भी मुझे पकड़ लो जब तक मेरी दो भुजाएं बलवती हैं यह अपने उपास्य की, एक प्रहरी की भांति रक्षा करती रहेंगी ।"

उसी समय बादलों से घिरे हुए आकाश में घोर गर्जना का स्वर सुनाई दिया । जो घटा संध्या से उमड़ रही थी वह अब तक समस्त आकाश में छा गई थी । जोर की हवा चलने लगी थी । परन्तु दोनों ने साहस न छोड़ा । परकोट की दीवाल पर रस्सी मजबूती से बंधी हुई थी । चन्द्रिका को कमर पर बिठा कर साहस के साथ शिल्पी नीचे नौका पर उतर गया । छः नौकाओं में से एक को बंधन मुक्त कर वह दोनों ही मिल कर उसे खेने लगे । छप छप शब्द करती हुई नौका धीमे धीमे बीच धारा में बहने लगी । पवन के तेजी से बहने के कारण नदी में

तरँगें उठने लगीं थीं और वह उस नौका को अपने प्रवाह में बहा ले चलीं।

× × ×

बीच धारा में पहुँच कर शिल्पी और चन्द्रिका ने नौका खेना बन्द कर दिया, एक प्रकार से उसे तूफान के हवाले कर दिया। एक धीमे और सतत स्वर में शिल्पी चन्द्रिका को अपनी जीवन कहानी कहने लगा, "देवी चन्द्रिका ! मेरा नाम सत्य है। मैं कान्य कुब्ज के दिगम्बर श्रेष्ठी का पुत्र हूँ। मेरे पिता अनेकों बार महाराजधिराज हर्षवर्धन के राजमहलों में गए थे। अमूल्य रत्नों से भी सुन्दर प्रतिहारियों ताम्बूल-वाहिनियों, दासियों रानियों और नर्तकियों की अनुपम कहानियाँ प्रायः वह मुझे सुनाते थे। जिनकी जगह कल्पना सागर की गहराई भी पार कर जाती थी !" सत्य के स्वर में एक सरस माधुर्य भरा हुआ था।

मुग्ध और उत्सुक स्वर में चन्द्रिका पूछने लगी, "क्या उन्होंने अपनी आंखों महाकवि बानभट और चीनी-यात्री ह्मानसियांग के दर्शन भी किए थे ?"

एक मधुर हास्य के सहित सत्य ने कहा, "निःसदेह चन्द्रिका ! प्रयाग की धर्म-सभा और कुम्भ का मेला उनके जीवन की एक अमिट स्मृति थी। कादम्बरी और हर्ष-चरित्र कीं अन्तहीन कथाएं अनेक बार सुध-बुध खो कर मैंने उनके मुख से सुनी थीं। तभी तो मैं ऐसा नर्तकियों का दीवाना, कला का प्रेमी, उभ्रान्त घुमक्कड़ हो गया।" शिल्पी के सुँदर घुँघराले बालों से चंचल बालक की भांति प्रभन्जन खेल रहा था। उसके नयनों में एक चमक थी।

"क्या यह भी सत्य है कि तुमने सेतुबंध-रामेश्वरम् तक समस्त भारत खण्ड का भ्रमण किया है ?"

"हां चन्द्रिका ! पैत्रिक व्यवसाय में मेरा मन नहीं लगा। महाराज हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद से ही समस्त मगध देश में आतंक छा गया।

राज और धर्म में कोई सुरक्षा और व्यवस्था नहीं बची। तभी एक दिन मेरे धन-धान्य से पूर्ण प्रसाद को भी दस्युओं ने लूट लिया। पिता का गला घोटकर आंगन में डाल दिया और मेरी दूर पार की संबंधी विधवा आश्रयहीना प्यारी बुआ को उठा कर ले गए। दस वर्ष की ही अल्प आयु में मैं गृह और कुटुम्ब विहीन होकर भानुमति की भांति देश-देशांतर में भ्रमण करने लगा। भाग्य ने मुझे एक कुशल शिल्पी बना दिया परन्तु देवी सारे देश में धर्म का एक कुचक्र चल रहा है। शठयन्त्रों के कारण सभी राज्य विछृंखल और शक्तिहीन होते जा रहे हैं। बड़े बड़े सामंत और श्रीमंत भोग विलास में ही रत रहते हैं। बड़े-बड़े मठाधीश और धर्मगुरू छुप कर पाप करते हैं, ढोंग और पाखण्ड रचते हैं। बौद्धों में दम्भ और विकार की वृद्धि हो चुकी है। कर्मकान्डी ब्राह्मण स्थान-स्थान पर बौद्धों की ही भांति मूर्ति पूजा करने लगे हैं। राम और कृष्ण को भगवान का अवतार मानते हैं।"

"भन्ते ! जिस भूमि पर सम्राट चन्द्रगप्त, प्रियदर्शी अशोक और महाराजधिराज हर्षवर्धन के चक्रवर्ती साम्राज्यों का उत्थान हुआ, उसी शस्य श्यामला, हरित वसना श्रेष्ठ मगध भूमि पर आज एक निबल राज्य खड़ा हुआ काँप रहा है। हूण और दस्यों के आतंक से त्रस्त। कर्मकाण्ड और पाखण्ड में रत जहाँ पाप और अधर्म की पराकाष्ठा हो गई है।"

"मगर चन्द्रिका इस युग का यह धर्म और राज्य व्यवस्था अब अवश्य नभ में घूमते नक्षत्रों के क्रम और पृथ्वी पर चलते हुए जीवन-मरण के चक्र के साथ मिट जाएगी। इस अराजकता और पाप का इतिहास भी नहीं मिलेगा। परन्तु इस युग की सच्ची कला जो प्रकृति के अनुपम सौंदय और मानव-हृदय के प्रेम में निहित है। मेरे हाथ से गढ़ी हुई भगवान की प्रतिमाएँ तुम्हारी अमर गाथाएँ युगों तक कहानी कहती रहेंगी।"

शिल्पी के स्वर में नदी का सा प्रवाह था। पवन के निरन्तर बढ़ते

हुए वेग ने प्रलयंकर रूप धारण कर लिया था। नौका डगमगाने लगी थी। एकाएकी वर्षा की बौछारें ने नौका को डुबो देने का निश्चय सा कर लिया। मृत्यु को निश्चय जानकर सत्य और चन्द्रिका एक दूसरे के समीप आ गए थे। उन्होंने एक दूसरे को अंक में भर लिया था। और एक मधुर स्वप्न में वह एक दूसरे को विलीन कर देना चाहते थे। वह चाहते थे कि उनकी यह यात्रा योंही अनन्त हो जाए।

"सचमुच सत्य तुम्हारी अनुभूति इतनी महान है जितना आकाश। तुम्हारा प्रेम इतना गहरा है जितना सागर। मेरा हृदय मेरे वक्ष से मुक्त होता जा रहा है कौन जाने इस सृष्टि का इसी पल में अन्त हो जाए। मानव का यह अनोखा इतिहास आज ही समाप्त हो जाए।" चन्द्रिका जीवन की वास्तविकता से कहीं दूर चली गई थी। सदा के लिए नयन मूँदने से पूर्व एक बार वह जी भरकर दूर जहाँ तक दृष्टि जा सकती थी क्षितिज को देखना चाहती थी; कि अचानक वह चौंक उठी, "सत्य उस ओर तो तनिक देखो। एक बड़ी नौका कितने वेग से हमारी ही ओर चली आ रही है ?"

परन्तु सत्य आत्म विस्मृति के उसी संसार में खोया हुआ था धीरे से बोल उठा, "जब मुझे अपना अभिष्ट मिल चुका है तो उसे छोड़कर किस ओर देखूँ ? तुम्हारा सा सौंदर्य संसार में क्या, स्वर्ग में भी नहीं मिल सकता।"

"अच्छा जी तब तो तुम्हें आज स्वर्ग मिल गया होगा ?" कहकर चन्द्रिका खिलखिला कर हँस पड़ी। प्रलय का उपहास करती हुई कोमल सरल मृदुल कण्ठ से निकली हुई मानव की वह हास्य से भरी नटखट ध्वनि कलकल जलधारा में विलीन हो गई।

३

***

समस्त उत्तर भारत में दस्युओं का आतंक फैला हुआ था। मध्य एशिया से आए हुए यह आक्रमण कारी असभ्य खूँखार और बलवान थे। भारत की स्वर्ग से भी सुन्दर भूमि पर जहाँ दया, धर्म और अहिंसा से पोषित संस्कृति पनप रही थी दस्युओं ने इस भाँति रौंधना आरम्भ कर दिया था जिस भाँति गंने के खेत को हाथियों का झुंड रौंध डालता
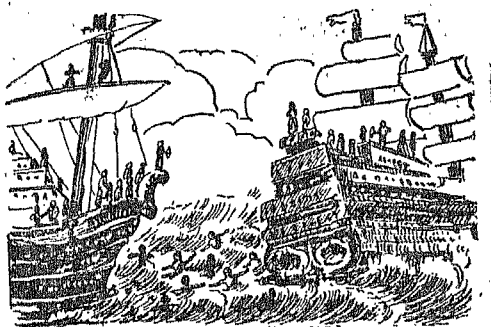
है। यद्यपि शक्तिशाली सम्राट हर्ष वर्धन ने उन्हें भारत से खदेड़ दिया था। परन्तु सम्राट हर्ष की मृत्यु के बाद और बौद्ध-धर्म के अवसान काल में, समस्त देश में केवल मठ और विहार ही विहार रह गए थे। समस्त देश में केवल भिक्षुक और भिक्षुणी साधू और साधवी थेर और थेरी ही दीखते थे। जीवन में आर्कमण्यता, आलस्य और भीरूता ही भीरूता छाई हुई थी। जनसाधारण पथभ्रष्ट हो गए थे। हिंसा और युद्ध के नाम से काँप उठते थे। दुःख, मुसीबत, कष्ट और मृत्यु में केवल "बुद्धं शरणं गच्छामि पापंशांतम्" आदि शब्दों क उच्चा-

रण ही सर्वत्र गूँज रहा था।

दूसरी ओर दस्यु दिन दहाड़े बाजार लूट लेते थे। स्त्री और बालकों को उठा कर ले जाते थे। उनके अश्वारोही श्रेष्ठियों के धन धान्य से भरे हुए गृहों में घुस जाते थे। माल और असबाब से भरे हुए सार्थ (काफिले) लूट लेते थे। उनकी विशाल और शक्तिशाली नौकाएं, गंगा जमुना जैसी वेगवती नदियों को सरलता से पार कर जाती थीं। वर्षा और भयंकर प्रभन्जन भी उनके पुरुषार्थ के सामने सहमते से प्रतीत होते थे। ऊँचे ऊँचे मस्तूल, पतवार, उनपर झूमते हुए विशाल दीपक, मांझियों और सैनिकों के कर्कश गान गंगा सी पवित्र सभ्यता को चीरते हुए आगे ही आगे बढ़ते चले आ रहे थे।

दस्युओं की नौका के सरदार ने अपने दूर-दर्शक यन्त्र के द्वारा चन्द्रिका और सत्य को देख कर हर्ष भरे स्वर में सैनिकों को आदेश दिया कि नौका उसी ओर ले चलो और उन दोनों को बन्दी बना लो। गंगा की उतँग लहरों में और दस्यु मांझियों में एक होड़ सी लग गई कि कौन पहले हँस से सुन्दर उस मानव के जोड़े को निगल ले। माँझियों और सैनिकों की चिल पुकार के कारण नौका कोलाहल से भर गई थी।

"महीर! क्या सोच रहे हो? बहुत सोचना बुरा है!" एक माँझी ने पास खड़े हुए एक सैनिक से पूछा।

सैनिक ने एक शेर की खाल पहन रक्खी थी। उसका अर्धनग्न शरीर सुन्दरता और मजबूती से गढ़ा हुआ था। उसकी आँखें विशाल थीं। नासिका लम्बी और नोकीली थी। उसके आजानू लम्बी बाहें मोटी मोटी जाघें उसकी असीम शक्ति दर्शाती थीं। माँझी की बात सुनकर वह दूसरे सैनिकों की भाँति न तो क्रोध से लाल हुआ और न ही उसने कोई भयंकर अट्टहास ही किया। अपितु उसके मुख पर एक सरल मुस्कान छा गई। इस भांति का सुन्दर भाव प्रदर्शन उसने इस

देश में आकर ही सीखा था। एकाएकी उसके नयन चमक उठे। और वह बोला, "मांझी! क्या तुम भी उन दोनों को देखते हो, तूफान और मृत्यु के आंचल में भी यह कितने मुग्ध और निडर हैं। धन्य हैं वे जो संसार को सौंदर्य, प्रेम और आनन्द से भर देते हैं।"

बात सुनते ही माँझी, बिना कुछ सोचे समझे ही एक भयंकर अट्टहास कर उठा," मैं जानता हूं तुम दिन पर दिन कायर होते जाते हो! यह देश, जादू का देश है। यह हम जैसी बहादुर जाति को भी अपने जैसा ही कायर बना लेगा।"

एक अपमानित सैनिक की भांति झनझना कर महीर ने अपनी तलवार खींचली और मांझी पर एक भरपूर हाथ मारा। परन्तु वह फूर्ति से चप्पू छोड़कर एक ओर को उछल गया। महीर का वार खाली चला गया। इतने में ही भयंकर हुँकार भरता हुआ सरदार उछल कर दोनों के बीच में आ खड़ा हुआ और महीर को जोर से धक्का देकर बोला, "महीर, महामूर्ख! यह भावुकता का समय नहीं है। पहले त्रुओं से युद्ध करो। इस छोटी नौका को श्रृखंलाओं में बांध लो।"

"इनसे युद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं।"

"क्या तुम आज्ञा पालन से इनकार करते हो? विद्रोही।"

गुस्से में तमतमाते हुए सरदार ने अपना खड्ग झंकारते हुए कहा

एक स्थिर गम्भीर स्वर में महीर ने उत्तर दिया "नहीं सरदार तुम इस देश को नहीं जानते। यह साधु हैं यह कभी युद्ध नहीं करेंगे। यह संसार में शान्ति चाहते हैं। हिंसा को बुरा समझते हैं!"

"अह! अह!" बड़े जोर से सरदार अट्टहास कर उठा, "शान्ति के साधु! अह! अह! मूर्ख कायर कहीं के।" मानो स्वयं अपनी ही कायरता से दूसरे ही क्षण सरदार का मुख गुस्से से तमतमा उठा और वह एक भीषण गर्जना के स्वर में चिल्लाया, "सैनिकों प्रहार करो। देखो शत्रु भाग न जाए। नौका श्रृखलाओं में बाँध लो।"

बड़ी जोर से नौका में लोहे की जंजीरों के खनखनाने का स्वर उठा। एक साथ सैनिकों के कठोर स्वर सुनाई दिए। सत्य और चन्द्रिका की डूबती,-उतराती नौका दस्युओं ने पकड़ ली। महीर ने दोनों को बन्दी बना लिया।

उन्हें बिना किसी प्रयास के पकड़ लेने पर सरदार, एक उपहास के स्वर में पुनः खिलखिलाकर हँस पड़ा, "शान्ति के साधू! अहः! अहः!" कह कर बड़ी हीन दृष्टि से चन्द्रिका को देख कर बोला, "यह मृगछाला तुम्हें पसन्द है, छोकरी? मैं तुम्हें दे सकता हूँ। सुनो, मैं राजा हूँ, तुम्हें अपनी रानी बनाऊंगा। प्रतिहारी! मदिरा लाओ?" पुनः बड़े जोर से चीख कर सरदार बोला। एक श्वेत संगमरमरी रंग की कोमलाङ्गनी जो एक खाल पहने हुए थी। उसका शरीर अर्द्धनग्न था। अंग प्रत्यंगों में से अपरिपक्क यौवन विस्फुटित हो रहा था, एक मद-भरी इठलाती हुई चाल से, सोने के कलश में मदिरा लिए हुऐ सरदार के सामने आ खड़ी हुई। एक मदिरा का चसक भर कर उसने सरदार को भेंट किया।

एक साथ ही चसक की सारी मदिरा गले के नीचे उडेल कर वह पुनः चीखा, "महीर। मैं आदेश देता हूँ, नौका को वापिस लौटा ले चलो। माँझियों पतवार गिरा दो! जाओ!" कहकर उसने महीर के मुख पर थूक दिया।

अपमानित होते ही महीर ने अपना खड्ग संभाल लिया और अचानक ही सरदार पर आक्रमण कर दिया। ज्योंही सरदार घायल हुआ कि महीर ने उसे अपने दोनों बलशाली हाथों में उठाकर नौका से बाहर जल में फेंक दिया।

इधर उधर सैनिकों में भीषण खड्ग युद्ध होने लगा। परन्तु महीर ने उसी समय चिल्लाकर कहा, "युद्ध बन्द करो हम विजयी हुए हैं।"

महीर के अदम्य साहस और उदारता के सामने सभी सैनिक

झुकते हुए जान पड़े। मस्तूल के भारी भारी बाँस गिरा दिए गए। अनेक चप्पुओं के एक साथ ही उठने और गिरने का ऊंचा छप छप स्वर सुनाई देने लगा। नौका तूफान के विपरीत पुनः तट को लौटने लगी। दस्यु एक साथ ही अपने वाद्य-वादनों के साथ ऊँचे कण्ठ से एक समूह गान गाने लगे। तूफान का वेग कम हो गया था। शनैः शनैः समूह गान समाप्त हो गया। बड़ी देर तक कोई मानव कण्ठ नहीं सुनाई दया। लगता था सब उनींदे हो गये हैं। कहीं कोई मदिरा के नशे में बकझक कर उठता था। कभी खड्ग खनखना उठते थे। कभी नौका डोलने लगती, तो मांझी हुंकार भर उठते थे।

× × ×

"सत्य सुनों ! क्या सो गए हो ?" एक धीमे फुसफुसाते हुए स्वर में चन्द्रिका ने सत्य से कहा।

"नहीं"

"देखो ! मेरे बंधन ढीले हैं और मैं उन से मुक्त हो सकती हूँ।

निराशा भरे स्वर में सत्य बोला, "व्यर्थ है।"

परन्तु चन्द्रिका उसी प्रकार उत्साहित स्वर में पुनः बोली, "नहीं मेरे निकट का सैनिक सो गया है। उसकी तलवार उठाई जा सकती है।"

"सो ?"

"वह रस्सियों पर झूमता हुआ बड़ा दीपक देखते हो ?"

"हूँ, देखता हूँ।"

"रस्सियों पर एक भारी प्रहार करते ही दीपक खन खना कर गिर पड़ेगा। अंधकार और आतंक छा जाएगा। यदि नौका को आग लग गई तो इस पवन के वेग में वह अवश्य भड़क उठेगी। और फिर......।"

"और फिर मत सोचो" एक आवेश भरे स्वर में सत्य बोल उठा।

घने कजराले बादलों के छोर पर कहीं उसे एक पहली रेखा दीख पड़ी, "लो शीघ्रता से मुझे बंधन मुक्त कर दो।"

कुछ देर को दोनों ही निःस्पंद और शान्त हो गए। धीरे धीरे चन्द्रिका ने अपने को बंधन मुक्त कर लिया। उनके पास का सैनिक मदिरा पीकर मदहोश पड़ा था। उसका खड्ग चन्द्रिका ने धीरे से खिसका कर सत्य के बंधन भी काट डाले। आहट से एक बार सैनिक कुछ हुँकारा परन्तु भाग्य से वह जागा नहीं अपितु अपनी टांगें पसार कर वह चित्त सो गया।

तलवार के एक ही भरपूर प्रहार से खनखनाता हुआ दीपक नीचे आ गया। उसके शब्द घोष से सभी एक बार चौंक कर कांप उठे। सभी ओर अन्धकार छा गया। "पकड़ो! मारो!" की कर्कश आवाजों के साथ खड्गध्वनि उठने लगी। अंधकार में सैनिक आपस में ही एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। कोई जोर से चिल्ला रहा था। "सैनिकों शीघ्रता से प्रकाश करो। ध्यान रखो बंदी भाग न जाएं। दास शीघ्रता से उलकाएं प्रकाशित करो। शीघ्र ता करो।" परंतु सभी आदेश निशप्रयोज थे। सैनिक केवल एक दूसरे को लूट रहे और आपस में लड़ रहे थे।
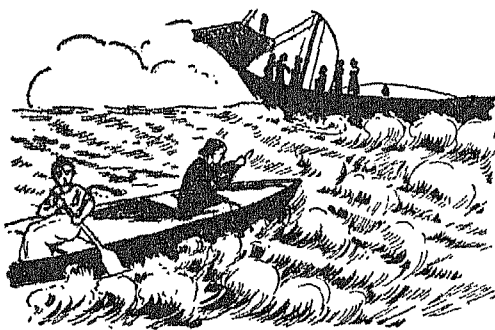
चन्द्रिका ने अवसर पाकर दीपक की ज्वाला को रस्सियों और कपड़ों से भड़का दिया। इतने में ही सत्य पर एक सैनिक ने खड्ग से प्रहार किया। वह स ह न सका। घायल होकर नौका से बाहर गिर पड़ा।

नीचे एक छोटी सी नौका बंधी थी। वह उस में बेसुध होकर जा पड़ा। चन्द्रिका ने उसे घायल होकर गिरते देखा और वह भी उसके साथ ही साथ नौका के बाहर छलांग लगा गई। दोनों कुछ देर तक छोटी नौका में छिपे रहे। इसी समय चन्द्रिका ने सत्य के खड्ग से जिस रस्सी से वह छोटी नौका बड़ी नौका के साथ बंधी थी काट डाला।

जाह्नवी की उत्ताल तरंगें। पुनः दोनों को लेकर वेग के साथ बह चलीं। विशाल दस्यु नौका में आग लग गई। अपनी समस्त क्रूरता और रौरव को लेकर वह पतित पावन भागीरथी के अंतराल में समा गई जिन्होंने अनुभव किया है वह सब जानते हैं कि जीवन में निर्दयता और मृत्यु में दया भी है।

४

***

सूनसान घने जंगल में से हर हर सन सन करता हुआ मारूत बह रहा था। काली गहन रजनी छाई हुई थी। छम छम करती हुई मूसलाधार वर्षा हो रही थी।

परन्तु उस निर्जन बन में एकाएकी गहर गम्भीर मधुर कण्ठ से निकली हुई ध्वनि, "पूरोत्पीड़े तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया। शोक क्षोभे च हृदयं प्रलापेख धार्यते !!" सर्वत्र निनादित हो उठी जिसे सुन-कर घोंसले में बैठा हुआ एक एकाकी पक्षी सिहर कर दो आंसू रो पड़ा।

एक मेधावी चाल से चलता हुआ सौम्य आकृति और आकर्षक व्य-क्तित्व वाला कोई यात्री चला जा रहा था। उसके कण्ठ से ही वह अमंतगान उस निर्जन बन में निनादित हो उठा था।

अचानक एक बड़े ज़ोर की गड़गड़ाहट आने लगी और साथ ही पृथ्वी डोल उठी। यात्री ने एक कंपित स्वर में कहा, "ओह भूकम्प !" कि इतने में ही उसके सामने से फुँकारता हुआ एक अजगर एक पेड़ पर सरक कर सिमट गया। यात्री भयभीत होकर सहमे-सहमे कदमों से आगे बढ़ रहा था कि सामने एक शिवालय के खण्डर से दिखाई दिए। मन्दिर के साथ ही पीपल का एक घना पेड़ था जहाँ एक उल्लू बैठा हुआ टुकुर टुकुर उसे ही निहार रहा था। उस मन्दिर के पीछे से एक कूकुर-रोदन का स्वर उठा। जिसे सुनते ही उस धीर प्रवासी का भी

साहस टूटता हुआ सा जान पड़ा, "ओह् आज कैसे अशुभ भयंकर क्षणों में से पृथ्वी घूम रही है ?" वह फुसफुसाया और उस भग्न खण्डित मन्दिर में कुछ आश्रय पाने को घुस गया।

"कलिंग। कलिंग।" के एक भयंकर कर्कश जाप से सारा मन्दिर गूँज रहा था।

यात्री पुनः एक बार चौंक उठा, "कौन ? कपालिक। ओह् भगवान, आज मैं अनेक वर्षों बाद यह किस दुरात्मा, अशुभ विकराल भयंकर के दर्शन कर रहा हूँ। धर्म का यह कैसा एक देहधारी भयावह रूप है ?" मन ही मन वह कहने लगा, यद्यपि डर के मारे उसके मुख से एक भी शब्द न फूटा।

उसी क्षण कपालिक का एक भयंकर अट्टहास उस मन्दिर में गूंज उठा। मन्दिर की चारों दिवालें कांप उठीं। तभी एक गर्जना करता हुआ वह कपालिक] बोल उठा "वहाँ द्वार पर कौन है ?".

"मैं भवभूति हूँ। मेरा प्रणाम स्वीकार करो, त्रिकाल-दर्शी, महा योगी ?" अपना समस्त साहस बटौर कर यात्री बोला।

परन्तु कपालिक उसी भयंकरता से पुनः बोला, "कवि तुम ? अहः। हः। समझा। फिर शान्ति की खोज में तुम वर्षों से इस निर्जन बन में घूम रहे हो, बोलो क्या हुआ तुम्हारा मनोरथ पूर्ण ?"

कपालिक के प्रश्न का एक भरे हुए से कण्ठ में कवि ने उत्तर दिया, "अवश्य ?"

"झूठ। नितांत झूठ। कहाँ है वह शान्ति, बोलो ?"

"मैंने उसे अपने ही मन में पाया है, इस भौतिक संसार में नहीं।"

"अहः ! हः ! हः धोका निरा धोका है। ओह भ्रांत पथिक सुन, बिना सिद्धि के कुछ नहीं हो सकता। तप के बिना भक्ति नहीं। नियम के बिना व्यवस्था नहीं। संयम के बिना कुछ प्राप्ति नहीं। अनुष्ठान के बिना पूर्ति नहीं ?"

"बस करो। बस करो।" उस कर्कश स्वर से सिहरते हुए भवभूति ने अपने दोनों हाथों से कान बन्द कर लिए और अपने सरस परन्तु ऊंचे से ऊँचे स्वर में वह भी बोलने लगे, "जन-जनार्दन का प्रेम मेरी प्राप्ति है। इश्वर भक्ति मेरी सिद्धि है। चरित्र ही चमत्कार और संघर्ष-ही मेरी साधना है।"

जहाँ भवभूति खड़े थे वहीं बैठ गए।

परन्तु कपालिक कवि की बात सुन कर और भी अधिक उत्तेजित हो उठा, "प्रेम, भक्ति, सँघर्ष, सब सांसारिक लोगों की बातें हैं, जोकि माया लिप्त और दुःख व्याधि से निश-दिन पीड़ित हैं, वह इस महासुख बाद को क्या समझ सकते हैं। योग और तपस्या से प्राप्त सच्चिदानदं सांसारिक सुखों से ऊंचा है। निराकार से साक्षातकार के आगे कर्म-विधान तुच्छ है। यह संसार मिथ्या है क्षण भंगुर है।" आवेश से भरी हुई एक गर्जना के साथ दूर क्षितिज में उंगली से इंगित करता हुआ वह बोला, "देख वह सामने मगध की सीमा पर, भागीरथी के उस पार, क्षितिज को छूता हुआ, ज्वालाओं का पुंज ?"

भवभूति ने मुंह फेर कर जो कुछ देखा उसे देखते ही वह भय और विस्मय से चकित होकर जहाँ के तहाँ ही बैठे रह गए। सामने भागी-रथी की कलकल करती हुई निर्मल जल धारा बह रही थी और उसके दूसरे किनारे पर लाखों दीपक जगमगा रहे थे। जहाँ एक सुंदर नगर बसा हुआ दीखता था। उसके कंपित कण्ठ से आप ही आप शब्द निकल पड़े, "एं। सचमुच यह ज्योति पर्व सा क्या है ? ओह, यह किस विशाल रचना का छवि दर्शन है ? त्रिकालदर्शी बताओ, बताओ। यह सब क्या है ?"

कपालिक अपने स्थान से उठ बैठा और अति उल्लास भरे स्वर में बोलने लगा, "महामूख। यह ज्वालामुखी की दंत पंक्तियों सा सैनिक शिविर है। यह युद्ध का छबि दर्शन है। नर बली यज्ञ का आयो-

जन है।" उसने पुनः एक भयंकर अट्टहास किया, "कान्यकुब्ज की सैनाएं मगध की सीमा पर एकत्रित हो रही हैं। यह सैन्य शिविर है। शत्रु के गुप्तचर सर्वत्र मगध में विस्फोट और षड्यन्त्र रच रहे हैं।"

एक त्रस्त और शिथिल से स्वर में कवि बोला,

"त्रिकालदर्शी इस संकट का त्राण क्या है ?"

"जय भगवती !" कपालिक ने एक हुँकार भरी, "नर-बली, नर-बली, केवल नर-बली। जिस भाँति अग्नि को घृत की, जीवन को खाद्य की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रभुत्व को सत्ता की, राज शक्ति को विस्तार की और सैनिकों को शत्रु भूमि दलन की चाह होती है।"

पुनः एक अति भयंकर बादलों में गड़गड़ाहट सुनाई दी। सामने ही वृक्ष पर बिजली गिर पड़ी। भयंकर कपालिक भी मन्दिर में कहीं अदृष्य हो गया। रसातल में समा गया ।

केवल तृस्त, भ्राँत कंपित भवभूति ही वहाँ खड़े रह गए। "कैसी एक विडम्बना थी ?" कहते हुए पुन: वह अपने स्थिर स्वस्थ-कदम बढ़ाते हुए बन पगडण्डी के सहारे भागीरथी के तट की ओर बढ़ चले।

५

***

"नयन खोलो सत्य नौका किनारे लग गई है" अति स्नेह स्निग्ध स्वर में चन्द्रिका बोली ।

अभी भी मूसलाधार वर्षा हो रही थी । रात्री का अन्तिम पहर भी बीतने वाला था । परन्तु उस रहस्यमयी रजनी में क्या कुछ और होने को था कौन जाने । मिलन विछोह, मृत्यु जीवन जो जिस के भाग्य में लिखा था काल के उस विकराल चक्र में धीरे धीरे घटित होता जा रहा था ।

अनुपम पराक्रम से चन्द्रिका नौका को तट तक ले आई थी । एक बार अश्रु पूरित नयनों से उसने अचेत से पड़े हुए सत्य को देखा । उसके घुंघराले बालों पर अपना कोमल हाथ फेरा । उसका स्नेह भरा स्पर्श पाकर और उसका कोमल कण्ठ सुन कर सत्य में एक बार चेतना सी दौड़ गई उसने अपने बड़े बड़े विशाल नयन खोले, "ओह ! बड़ी पीड़ा हो रही है चन्द्रिका, यह घाव अवश्य मेरे प्राण ले लेगा ।"

चन्द्रिका ने उसकी बात सुनी अनसुनी कर दी और उसके विशाल नयनों में अपने प्रेमातुर नयनों से अमृत निचोड़ते हुए बोली, "सदा तुम्हारी आँखों से ऐसा ही क्यों प्रतीत होता है जैसे कि तुम कोई स्वप्न देख रहे हो ।"

सचमुच ही सत्य को उस दृष्टि में एक नव जीवन का आभास मिला, वह एक कातर पीड़ित स्वर में बोला, "आज तो मैं अपने स्वप्न को सत्य होता हुआ देख रहा हूँ । सच बोलो चन्द्रिका तुम मेरे जीवन का

सत्य हो या स्वप्न ?"

"मैं सत्य हूँ या स्वप्न ?" पल भर वह बड़ी मोहक, आकर्षक मुस्कान मुस्कुराती रही और फिर एक नटखटता भरे स्वर में बोली, "हाँ याद आया। मैं एक अनन्त स्वप्न हूँ जो सत्य सी लग रही हूँ।"

चन्द्रिका के उस आकर्षक मोहन रूप के आगे वास्तव में सत्य कुछ देर को अपनी सारी पीड़ा भूल गया और एक उत्साह भरे स्वर में बोला, "तो इस स्वप्न पर सहस्त्रों नौछावर हैं चन्द्रिका। यदि मृत्यु भी मुझे तुमसे छुड़ाने आएगी तो मैं उससे भी लड़ूँगा।"

"ओह इस अशुभ क्षण में अपने मुख से अशुभ बात मत निकालो। चलो मैं नौका से तुम्हें किनारे पर उतार देती हूँ।" बड़े परिश्रम के साथ धीरे धीरे अपने सहारे से चन्द्रिका सत्य को तट पर ले आई। बहुत देर तक दोनों ही वर्षा में खड़े खड़े कांपते रहे। सत्य से एक पग भी आगे न बढ़ा गया। एक बियाबान घना जँगल चारों ओर फैला हुआ था।

"ओह इस निर्जन बन में तो मुझे दूर तक कुछ नहीं दीखता।" साहस बटोरते हुए चन्द्रिका बोली। इसी बीच उसकी दृष्टि वृक्ष से लिपटे हुए अजगर पर जा टिकी और वह बड़े जोर से चीख उठी, "सर्प। सर्प। बचो सत्य।"

इतने में ही दूर कहीं उल्लू बोल उठा और अपने पर फड़फड़ाता हुआ दोनों के सिरों पर से उड़ता हुआ चला गया।

दूर सप्तम स्वर एक कूकुर रोता हुआ जान पड़ा।

सत्य जहाँ खड़ा था वहीं बैठ गया, "ओह। महाकाल आज बन में विचरण कर रहे हैं।"

परन्तु चन्द्रिका ने फिर भी अपना साहस नहीं खोया। "धीरज रखो सत्य। बिना साहस के यात्रा कैसे पूर्ण होगी ?" सत्य को समझाते हुए वह बोली।

"पास ही कहीं कोई ठहरने का स्थान मिल सके तो तनिक देखलो चन्द्रिका। कहीं आश्रय मिल गया तो कल प्रातःकाल निसन्देह किसी ग्राम तक पहुँच सकेंगे।"

"तुम यहीं विश्राम करो। मैं अभी आती हूँ। अवश्य यहाँ कोई शिवालय है।" कह कर शीघ्रता से चन्द्रिका घने बन में कहीं ओझल हो गई।

कुछ दूर तक कीचड़ में छप छप करती हुई चन्द्रिका की पगध्वनि सत्य के कान में आती रही और फिर दूर से उसका एक चित्कार सुनाई दिया।

एक विवश विव्हल स्वर में सत्य चिल्लाया, "चन्द्रिका कहाँ हो तुम ? चन्द्रिका ! चन्द्रिका !!" और उसी क्षण वह मूच्छित हो कर जहाँ का तहाँ गिर पड़ा।

× × ×

कवि भवभूति ज्यों ही गंगा तट पर पहुँचे तो प्राची में अंशुमाली उदय हो चले थे। ऊषा ने उनका पथ स्वप्नों से रंग दिया था। वह अचानक एक बौद्ध साधु को घायल और अचेतन पड़ा हुआ देखकर ठिठक गए। दया का एक स्रोत उनके हृदय से फूट पड़ा। साधु के हृदय में धड़कन देख कर उन्होंने मन ही मन सोचा। चलो इसे किसी भांति पास के ग्राम तक उठा ले चलता हूँ। हो सका तो इसका उपचार करूँगा।

धर्म के मान सरोवर में करुणा हँस सी पावन है। जीवन प्रांगण में वह सुरसरी गंगा है।

रजनी के विकराल काले बादल फट गए। सर्वत्र एक उज्जवल सुन्दर श्वेत कमल सा दिवस खिल उठा।

६
***

विद्युत की तरह चंचल एक श्वेत रंग के घोड़े पर राजसी ढंग से आसीन, तेजवान युवक बैठा हुआ था। उसके एक ओर सुदृढ़ खड्ग लटक रहा था। बाँए हाथ में उसने बड़ा ढाल और घोड़े की लगाम थाम रखी थी। दाहिना हाथ वह कभी कभी बड़े स्नेह से अपने प्रिय घोड़े पर फेर देता था। कभी उसे थपथपाता कभी उसके अयाल सहला देता था। उसके पीछे पीछे एक दूसरा घुड़सवार भी चल रहा था। उसकी चाल से प्रतीत होता था कि पहला घुड़सवार कोई बड़ा योद्धा है और उसके पीछे पीछे चलने वाला उसका अंक रक्षक है।

दोनों निस्तब्ध एक घने जंगल में से हो कर जा रहे थे। सूर्य अस्त हो रहा था और घने पेड़ों की छाया में पूर्ण अंधकार छा गया था। आगे वाले घुड़सवार में उत्तेजना, चपलता और स्फुर्ति थी। वह अदृश्य में भी कहीं अपना मार्ग स्वयं ही बना लेता था। तनिक भी आहट पर भी चौंक उठता था और उसका हाथ सीधा उसके खड्ग पर पहुँच जाता था।

अचानक एक पेड़ों के घने झुरमुट के पास पहुँच कर उसने अपना घोड़ा खड़ा कर लिया, "ठहरो अंगरक्षक।" आज्ञा से भरे हुए स्वर में वह बोला, "तनिक सुनो तो इस गहन निर्जन वन में यह किस पीड़ित नारी की कोमल कण्ठ ध्वनि आरही है।

अंगरक्षक ने शीघ्र ही कोई उत्तर नहीं दिया। वह उस ध्वनि

को सुनने का प्रयास करने लगा। वह ध्वनि ऐसी थी मानो कोई देवदासी देव मन्दिर में बैठी हुई अर्चना का गीत गा रही हो।

"इस अर्ध रजनी के असमय में महाराज इस मायावनी स्वर-लहरी पर विश्वास न करें। प्रायः निर्जन बन में भूत पिशाच भांति-भांति के रूप धारण करके विचरते रहते हैं।"

योद्धा की बात सुनकर युवक ने एक संमोहन मुस्कान मुस्कराकर अपने प्रिय घोड़े को आगे बढ़ा दिया। दूसरे ही क्षण उसका घोड़ा ऊँची ऊँची छलांगे भरने लगा। परन्तु एकाएकी अपने राजसी ढंग से घोडे का मुँह मोड़ कर वह खड़ा हो गया।

"सुनो अंगरक्षक यह कितना दुःखी और मधुर स्वर है, यह माया-विनी नहीं अवश्य कोई देवी है। आओ इस कोकिल-कण्ठा का पता लगाएँ।"

कहकर युवक ने अपना घोड़ा उसी कण्ठ-ध्वनि को लक्ष्य करके आगे बढ़ा दिया।

विवश होकर अंगरक्षक ने अपने उतावले चंचल-मन स्वामी को रोकने का अन्तिम प्रयत्न किया, "नहीं महाराज मृगमरीचिका के पीछे इस भाँति न दौड़िए अभी आप इस देश में नये हैं।"

अंगरक्षक का इस भाँति स्वामी का पथ रोकना शायद उस उन्मुक्त हृदय के नवयुवक को भाया नहीं। क्रोध से भरे हुए स्वर में वह बोला।

"मैं आज्ञा देता हूँ मेरे पीछे-पीछे आओ।"

पल भर के उपरांत ही दोनों घोड़े तीव्र गति से दौड़ने लगे। टूटे हुये वृक्ष, बहते हुये नाले, भारी-भारी पाषाण सभी कुछ फलांगते हुये वह क्षण भर में ही कहीं से कहीं निकल गये।

थोड़ी ही देर में वह देवी के भग्न मन्दिर के सामने पहुँच गये।

एकाएकी अंगरक्षक चीख उठा, "संभल कर महाराज, आगे बड़ा पाषाण है घोड़ा अटक जाएगा।"

अँगरक्षक की बात पूरी होते न होते घोड़ा पाषाण की ठोकर खाकर धड़ाम से गिर पड़ा । उस पर बैठा हुआ वह कुशल सवार भी अपने आपको न सम्भाल सका और चारों खाने चित्त धरती पर आ पड़ा ।

"जय भवानी ! अहः ! अहः !" एक भयंकर अट्टहास उस भग्न मन्दिर में गूँज उठा । ऐसा प्रतीत होता था कि उस भग्न मन्दिर के दो तीन पाषाण शिखर से झड़ कर नीचे आ पड़े हों । अँगरक्षक भयभीत होकर स्वामी की रक्षा को दौड़ा । वह समझा कि यह जादू का मन्दिर चूर-चूर होकर अभी दोनों के सिर पर आ पड़ेगा ।

परन्तु मन्दिर के द्वार पर कपालिक को बैठे देखएक दम वह सहम उठा ।

"ओह ! यह कौन है ? कितना विकराल, कितना भयानक ?" भय से कम्पित स्वर में अँगरक्षक बोला, "महाराज यह तो कोई अघोरी समाधीस्थ है ।" और दूसरे क्षण उसने अपने दोनों हाथ जोड़कर योगी को दण्डवत किया, "त्रिकालदर्शी मेरा प्रणाम स्वीकार करो ।"

परन्तु उसका स्वामी वशीभूत नयनों से कुछ देखता हुआ पुनः उठ कर खड़ा हो गया ।

"तनिक इधर देखो अँगरक्षक, कितना सुन्दर स्वरूप है ।" एक खोए हुए से स्वर में वह वीर सेनानी एकबार बोल उठा । दूसरे ही क्षण उसने भी अपने दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए कहा, "देवी मेरा प्रणाम स्वीकार करो ।"

"प्रणाम आर्य !"

एक आर्त, करुण कण्ठ से स्वाति की बूँदों के सदृश वह दो शब्द निकले जिन्होंने उसके चातक से मन को तृप्त कर दिया ।

तभी घन गर्जना के समान पुनः अघोरी का स्वर गूँजा, कान्यकुब्ज "सम्राट की जय हो ।"

कुछ सहम कर और कुछ आश्चर्य से चकित होकर उसने अपना

चमचमाता हुआ खड्ग हाथ में साध लिया ।

"क्या ऋद्ध सिद्ध योगी तुम मुझे पहचानते हो । तब अवश्य तुम मगध राज्य के गुप्तचर हो, तुम्हें मैं कभी जीवित नहीं छोड़ूंगा ।" कुछ भयभीत होकर कान्यकुब्ज सम्राट बोला ।

उसी समय अंगरक्षक स्वामी के सामने आ खड़ा हुआ । "देवी की असीम कृपा से अघोर महायोगी और सिद्ध होते हैं महाराज, यह भूत भविष्य सब जानते हैं । त्रिकाल दर्शी होते हैं ।"

"क्या कहते हो अंगरक्षक यह त्रिकालदर्शी हैं ? इनके पास दिव्य दृष्टि है ? तब पूछो इनसे क्या मेरा मनोरथ सफल होगा ? क्या मैं मगध को विजय कर सकूंगा ।"

"पूर्व जन्म के संस्कार से तू राजा है । परन्तु बलिदान के बिना संसार में सफलता नहीं और सफलता से बढ़ कर यहाँ को दूसरा चमत्कार नहीं । तू नर बलि दे सफलता तेरे चरणों में लोटेगी ।"

सुनते ही सैनिक ने मियान से पुनः अपना खड्ग् बाहर खेंच लिया,

"यह सब षड्यन्त्र है अंगरक्षक फिर कपालिक को ललकारते हुए स्वर में वह बोला, "नरबलि किसकी नरबलि?"

"अहः ! अहः ! अघोरी ने पुनः वही गगन भेदीअट्टहास किया राजा होकर डरता है, देवी की कृपा से डरता है ? जो देवी पर बलि होता है

उसका स्वर्ग गमन होता है । तुझ से अधिक साहस तो इस सुलक्षणा नारी में है जो प्रसन्नता से आत्म बलि देने को तत्पर है ।" कहते कहते हिंसा की कठोर कालिमा कपालिक के विकराल मुख पर छा गई ।

आवेश और क्रोध से कांपते हुए, सैनिक बोला, "क्या ? क्रूर, पिशाच तू इस सुकुमार नारी को देवी पर बलिदान करने को तैयार है ।"

एक निडर और ऊंचे स्वर में कपालिक ने उत्तर दिया, "देवी की यही इच्छा है ?"

एक असह्य क्रोध से कांपते हुए स्वर में सैनिक ने अंगरक्षक को आज्ञा दी, "अंगरक्षक इस नर पिशाच के अभी मेरे सामने खड्ग् से टुकड़े टुकड़े कर दो ।"

वही चिर परिचित गर्जना, देवी के उस भग्न मन्दिर में पुनः गूँज उठी, "सावधान ! ब्रह्म-हत्या करोगे सैनिक ?"

अपने जन्मजात संस्कारों के कारण अंगरक्षक धर्म संकट में पड़ गया, "नहीं । नहीं । महाराज मुझे क्षमा करें । मैं नत मस्तक होता हूँ । मुझे अपने धर्म से न डिगाएं । एक अस्त्र हीन ब्राह्मण की हत्या करने की आज्ञा मुझे न दें ।"

एक हीन और क्रूर दृष्टि से देखते हुए सैनिक ने कपालिक से पूछा, "ओह ! तू क्या ब्राह्मण है ?"

उसी निःश्चित स्वर में कपालिक बोला, "अवश्य ।"

उसकी निःश्चित मुद्रा से अधिक उत्तेजित होकर सैनिक ने कहा, "यदि नर-बलि से देवी प्रसन्न होती है, तो मैं ब्रह्महत्या करूँगा जिससे देवी को नरश्रेष्ठ की बलि मिल सके ।" एक गौरव मयी मुस्कान सैनिक के मुख पर छा गई ।

परन्तु तर्क में परास्त होकर भी कपालिक ने पराजय नहीं मानी, "यदि साहस है तो फिर विलम्ब मत कर राजन । आज सचमुच मझे उपयुक्त व्यक्ति मिला है जो मेरे अनुष्ठान को पूर्ण कर सकेगा परन्तु जो

मैं कहता हूँ उसे ध्यान से सुन," आत्म दर्शन की निर्लिप्त दृष्टि से एक बार उसने समस्त संसार को अपनी दिव्य दृष्टि में समेट कर कहा, "मगध नरेश, मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ मगर सुनो, आत्म बलि ही श्रेष्ठ नर-बलि है। इससे बढ़कर दूसरी कोई सिद्धी नहीं, यह मैं सिद्धराज होकर कह रहा हूँ। यही जीवन के हर क्षेत्र में मानव का सर्वोपरि चमत्कार है। अपना यह अपवित्र खड्ग फेंक दे।" उसने अपने स्थान से उठते हुए कहा।

सैनिक ने और भी दृढ़ता से अपना खड्ग पकड़ लिया। परन्तु वह सिद्धराज अपने वचन से विचलित नहीं हुआ और उसने देवी की प्रतिमा के आगे रक्खा हुआ एक बड़ा रक्त-रंजित फरसा उठा लिया और स्थिर कठोर करों से उसे सैनिक के हाथों में थमा दिया। गेरू के लाल रंग से रंजित मृतिका की एक विकराल प्रतिमा के आगे उसने अपना मस्तक झुका लिया।

"लो, राजन! शीघ्रता से अब देवी की चिर पिपासा शान्त कर दो।"

दूसरे ही क्षण सैनिक के फरसे के एक ही भरपूर भीषण वार ने कपालिक का सिर धड़ से अलग कर दिया। उस नीरव शान्त मन्दिर में जगदम्बा के चरणों से रक्त की एक मोटी धार फूट निकली।

उस वीभत्स दृश्य को देखकर चन्द्रिका के मुख से एक चीख निकल पड़ी। वह बिलख बिलख कर कहने लगी।

"आर्य सचमुच तुम्हारी बाहों में निर्बल की रक्षा है। अपराधी को दण्ड देने की सामर्थ है। धर्म भीरूता नहीं, कर्म विवेक है। निस्स-देह तुम इस भूमि के सम्राट होने के योग्य हो। क्या तुम पाटलीपुत्र जा रहे हो महाराज ?"

"अवश्य सुन्दरी अवश्य मैं पाटलिपुत्र जा रहा हूँ।" सैनिक ने सहज सरल भाव से उत्तर दे दिया। परन्तु अंगरक्षक उसी समय

दोनों के बीच आ खड़ा हुआ। "युवती, तुमने आवश्यकता से अधिक महाराज का भेद जान लिया है। अब हम तुम्हे बन्दनी बना कर साथ रखेंगे।"

एक क्रोध भरे स्वर में सैनिक झुँझला कर बोला, "अंगरक्षक!" परन्तु उस समय वह अंगरक्षक टस से मस न हुआ। उसमे धर्म भीरुता के स्थान पर कर्त्तव्य परायणता की भावना जाग उठी।

"मैं बन्दनी ही बन कर साथ चली चलूँगी महाराज! पाटलीपुत्र में मेरी मां नर्तकी पार्वती रहती है। अति कृपा होगी, महाराज का, यदि उस के गृह तक आप मुझे पहुँचा सकें।"

"मैं अवश्य तुम्हे पाटलीपुत्र ले चलूँगा। मेरे सैनिक तुम्हारी रक्षा करेंगे। परन्तु तुम्हे वचन देना होगा कि प्राण रहते तुम मेरा भेद किसी को नहीं दोगी।"

"मैं वचन-बध्द होती हूँ, सम्राट्।" कहकर चन्द्रिका हाथ जोड़ शीश झुका कर खड़ी हो गई।

अंगरक्षक ने कहा, "और तुम्हारी मां पार्वती को हमारे महाराज और इनके गुप्तचर सैनिकों को आश्रय देना होगा।"

"मैं महाराज की रक्षा और सफलता का पूरा प्रयत्न करूंगी।"

उसके बाद तीनों भग्न मन्दिर से निकल कर घने बन में कहीं विलीन हो गए।

७

***

एक बहुत बड़ा बन था विन्ध्यावटी ! बन के बीचोबीच वह भग्न चण्डी मंडप था। बनवासी नरनारी वन्य-फलफूल, औषध तथा लकड़ी आदि बटोर कर शहर में बेचने को जाते थे। वन के प्रारंभ में ही जङ्गली जातियों की एक बस्ती थी। लोग जङ्गली जानवरों और राज्य के बनपालों द्वारा सताए जाते थे।

कुणवी वन्य जाति के लकड़हारे और अनेक जातियों के व्याध जगल में घूमा करते थे। जंगल और बस्ती के कुछ भागों में प्याऊ और पथिकों के विश्राम-स्थल बने थे। जिनमें पानी और लाल लाल गन्ने के रस से भरे हुए घड़े रखे रहते थे। कुछ ग्रामीण और ग्रामेयिका नरनारी वन्य सामग्री सिर पर लादे जल्दी-जल्दी प्रति दिन शहर की ओर जाते थे। किसी के सिर पर सेंहुड़ की छाल का गट्ठा होता था तो किसी के पास छाय के ताजे लाल फूलों से भरी बोरियाँ। कुछ लोगों ने कपास, अलसी और सन के मुट्ठे इकट्ठे किए थे। शहद, मोम, मोरपंख, खस, कूठ और कत्थे की लकड़ी और लोध के भार भी दीख पड़ते थे।

जंगल में एक ओर झूम की खेती हो रही थी। कहीं कहीं खेतों को उपजाऊ बनाने के लिए बैलगाड़ियों में लाद कर पुराना खाद कूड़ा ढोया जा रहा था। उसी ग्राम के निकट एक तपोवन था। ऊषाकालीन वेद-मन्त्र के पाठ का गायन हो रहा था। सुन्दर धूप खिल रही थी। वृक्षों पर से पक्षियों का सस्वर गान, कलियों पर भौरों का गुन्जन सुनाई दे रहा

था ।

तपोवन के चारों ओर हरियाली ही हरियाली छाई हुई थी। इसी तपोवन में क्षीण, दुर्बल सत्य कुश के आसन पर उदास बैठा हुआ था। यद्यपि वह स्वस्थ हो गया था। परन्तु उसका हृदय रह रह कर एक मौन पीड़ा से कराह उठता था और झर झर करके उसके आंसू टपक पड़ते थे।

कंटीले करौंदा, तुलसी, जिमीकन्द, सेंजन और गरबेरुआ के ढेर, लौकी की बेलें और वेदियों के मंडप में बंधे बछड़े और कुकड़ूं कूं बोलते हुए मुर्गे, बांस, नरकुल और सरकण्डों से बनी झोपड़ियाँ देख कर सत्य का मन ग्राम्य वन्य-श्री की ओर आकृष्ट तो हुआ लेकिन वह चन्द्रिका को नहीं भूला।

अचानक कवि भवभूति की पग ध्वनि ने सत्य की विचार-शृंखला को तोड़ दिया। कवि ने अपने सरस स्वर में पूछा, "कहो सत्य, अब तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा है ?"

"अच्छा हूँ !" उदास स्वर में वह बोला। "आपकी अनुकम्पा से इस तपोवन का प्राकृतिक सौंदर्य निरखने को, शांति विश्राम लेने को काव्य श्रवण को मिल जाता है। सोचता हूँ यह जग कितना मिथ्या, निस्सार है। यहाँ का भौतिक सुख केवल एक मृगतृष्णा मात्र है। जो उसके पीछे जितना दौड़ता है उतना ही थकता है।"

"दुःख और क्लेश का कारण केवल अकर्मण्यता है, सत्य। मैं सोचता हूँ प्रकृति का शांत वातावरण तुम्हारे उदास मन को विरक्त बना रहा है। इसीलिए मैंने निश्चय किया है कि कल हम पाटलीपुत्र को चलेंगें। आजकल वहाँ अनेकों राजनीतिक उथल-पुथल हो रहीं हैं। तुम्हारा मन नगर के आमोद प्रमोद, हास उल्लास में बहल जाएगा। इस भांति तुम पूर्ण स्वास्थ्यलाभ कर सकोगे।"

"नगर जाना तो मैं अवश्य चाहता हूँ कवि। फिर खोए हुए से स्वर में बोला!" "कौन जाने चन्द्रिका यदि किसी वन्य पशु का आखेट

न बनी हो तो अवश्य नगर में कहीं मिल जाएगी।"

× × ×

रुनझुन रुनझुन करती बैलगाड़ी एक दिन भवभूति और सत्य को पाटलिपुत्र के समीप ले ही आई। मार्ग में वह दिवाकर मित्र के आश्रम में दो दिन ठहरे थे जो महाराज हर्ष के समय में बौद्ध-विद्या की प्रमुख संस्था थी।

पाटलीपुत्र उस समय मगध की राजधानी थी उसके चारों ओर नगर परकोट बनी हुई थी जो दूर से दीखती थी।

"...वत्स फिर विरह व्याकुल वह नर श्रेष्ठ पुरुषोतम राम सीता! सीता!! पुकारते हुए बन विजन, गिरी, गव्हर में भटकने लगे। धरणी ने उस अग्नि सी पवित्र अबलानारी को आत्मसात कर लिया। नभमण्डल कांप उठा। सर्वत्र प्रलय ही प्रलय हो गई।..."
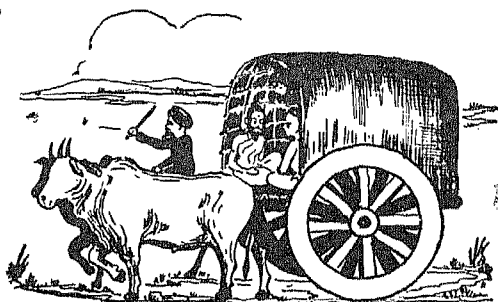
मार्ग में कवि ने अपने उत्तर राम-चरित्र का महाकाव्य आदि से अन्त तक सत्य को सुनाया। अनुकूल परिस्थिति में राम-चरित्र की कथा सत्य के हृदय में घर कर गई। उसके हृदय से करुणा का एक अमृत-मय स्त्रोत फूट पड़ा। उसका जी चाहता था कि राम की ही भाँति चन्द्रिका के विरह में व्याकुल हो कर वह भी बन, विजन, गिरी, गव्हर में भटकता फिरे। धरणी का कोना कोना छान डाले। नगर ग्राम सभी स्थानों में प्राणी प्राणी से भिक्षा मांग कर वह पूछे कि किसी ने उसकी वह कमल सी कोमल हँस सी पावन बसंत सी सुन्दर चन्द्रिका

देखी हो तो उस स्वप्नमयी का पता बता दे। कथा सुनते सुनते व्याकुल हो कर वह पूछने लगा, "तब कवि श्रेष्ठ प्रेम क्या है ? क्या वह बंधन है, क्या वह एक रोग है, दोष है कलंक है अथवा महापाप है ?"

कवि ने अपनी सरस वाणी में उत्तर दिया, "वत्स प्रेम न धर्म है, न पाप न वरदान है न शाप, यह केवल जीवन का अर्ग है! उसका महा उत्सर्ग है।"

नगर परकोट के समीप बैलगाड़ी पहुँच गई थी। जंगल के कच्चे रास्ते से हट कर वह राजपथ पर आ गई थी। जंगल और बस्ती के कुछ भागों में प्याऊ, और पथिकों के विश्राम स्थल बने थे जिन में पानी और लाल लाल गन्ने के रस से भरे घड़े रखे थे। अनेकों सैनिक, नगर-पाल, ग्रमीण, साधुओं की मण्डलिया पाटलीपुत्र की ओर बढ़ती चली आ रहीं थीं। सत्य ने कवि की बात सुनी और उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे सागर के मंथन के बाद अमृत प्राप्त हुआ हो, "कवि तुम साक्षी हो, अब मैं जीवन की घृणा को प्रेम से, असत्य को सत्य से, अधर्म को कल्यण से विजय करूंगा। मानव के निमित अपने हृदय का अर्ग चढ़ाऊंगा। जीवन को उत्सर्ग करूंगा। अब मैं किसी व्यक्ति विशेष के लिए ही हीं सर्वसाधारण के लिए जीऊंगा।" उसका मुख एक अलौकिक प्रकाश से दीप्त हो उठा।

एकाएकी बैलगाड़ी रूक गई। दूर से एक असीम जन समूह के कोलाहल की ध्वनि आ रही थी।

"ब्रह्मण ! पाटलीपुत्र का प्रवेश-द्वार बन्द प्रतीत होता है अब सूर्यास्त तक यहीं ठहरना होगा।" गाड़ीवान ने गाड़ी के अन्दर झांक कर कहा।

"मगर अभी तो सूर्य उदय ही हो रहा है।" भवभूति ने प्राची केअरुण गगन को देखते हुए कहा।

"क्या करूं विवशता है साधु। देखते नहीं हो सामने हाथी घोड़े

रथ के सहित अनेकों मनुष्य नगर-परकोट के बाहर द्वार खुलने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।" गाड़ीवान ने इतनी विवशता दरसाई मानों पाटलीपुत्र में घुसना पूर्णरूप से असम्भव हो।

भवभूति ने उसका मनोभाव समझ लिया और एक स्वर्ण मुद्रा दिखाते हुए वह बोले, "हमें आज ही पाटलीपुत्र जाना है किसी भी भाँति हमें प्रवेश मार्ग मिलना ही चाहिए।"

उस समय मगध की राज्य व्यवस्था पूरी तरह से बिगड़ चुकी थी। राज्य कर्मचारी घूंस लेते थे और मनमानी करने लगे थे। जिसकी लाठी उसकी भैंस का नियम ही सब ओर लागू था। भोग-विलास, मदिरा और नर्तकी के आमोद-प्रमोद में ही श्रेष्ठी और श्रीमंत रत रहते थे। यद्यपि लोगों के हृदय में कला का स्थान बनता जा रहा था। लोगों में सरलता के स्थान पर बनावट और प्रदर्शन अधिक आ गया था।

गाड़ीवान को स्वर्ण-मुद्रा का लोभ पर्याप्त था। क्योंकि जनसाधारण उस समय निर्धन और दुःखी थे। उसने अपनी सामर्थ भर प्रयत्न करने का विश्वास दिलाते हुए कहा—

"यदि द्वार खुला तो मैं अवश्य गाड़ी अन्दर ले चलुँगा।" और धीरे-धीरे भीड़ में निरन्तर गाड़ी को आगे ही आगे बढ़ाने लगा।

× × ×

हाथी, घोड़े, ऊंट, बन्दर, भालू, बत्तख, तोते, मैना आदि सहस्रों बनचर और पक्षी एक बड़े भारी नाटक मण्डली के शिविर में पिछले एक पखवारे से एकत्रित हो रहे थे। मण्डली में अनेकों नट और नर्तकियाँ थीं। शिविर नगर परकोट के बाहर बड़े सुचारू रूप से दिन प्रति दिन अपना विस्तार बढ़ाता जा रहा था। यहाँ तक कि एक दिन प्रातःकाल सूर्य उदय के साथ-साथ उसमें से एक नगाड़े की अति भीमकाय स्वर में बजने की आवाज उठी और उसके साथ ही साथ एक अति गहरा जन कोला-

हल भी उठने लगा, "नगरपाल भटराजदिग्पाल चार्वाक जी महाराज की जय हो ।"

लगभग घड़ी भर नगर परकोट के सिंहद्वार पर इसी भांति गगन भेदी निनाद होता रहा। तब सिंहद्वार के गुँबुंद से अचानक तूर्य को सुन कर परकोट के नीचे यात्रियों के शिविर में सर्वत्र शान्ति छा गई ।

कुछ देर में ही गुँबुंद से एक भारी भरकम स्वर में क्रोध से भरे हुए स्वर में चिल्लाने की आवाज आई, "अरे यह कौन मूर्ख-मण्डली सवेरे-सवेरे नगर की शांति भंग कर रही है। आज कोई भी नगर में नहीं घुस सकता।"

उस भारी भरकम स्वर को लक्ष्य करके एक बड़े तीखे परन्तु दूर तक सुनाई देने वाले स्वर में शिविर से एक व्यक्ति ने चीख़कर कहा, "महाराज यह नाटक मण्डली है। हम समस्त दक्षिण-पथ का भ्रमण कर अन्त में पाटलीपुत्र की महिमा सुन यहाँ पहुँचे हैं। हमारे पास करतब दिखाने के लिए एक सो तीन मर्कट, पच्चीस गर्धभ, तीस कूकुर, पचपन रामनामी पूर्ण पण्डित सुग्गे। बीस भटयारिन मैनाएँ। अनेकों नट हाथी घाड़े गाड़ियाँ हैं........."

बीच में ही वही क्रोध से भरा हुआ भीषण स्वर फिर गुँबुँद से आया, "अबे मर्कट–गर्धभ के बच्चे चुप ! तेरे शब्द उच्चारण से ही मेरे सिर में धमाका होता है। आजकल पाटलिपुत्र में शत्रु सेना के घुस आने का भय है। अत: यह बन्दर भालू क्या, मेरी आज्ञा के बिना कोई चींटी भी नगर में नहीं घुस सकती।"

अपनी पूरी शक्ति लगा कर फिर शिविर में से उसी मनुष्य ने उत्तर देना आरम्भ किया, "महाराज आप हमारी छान बीन कर सकते हैं। हमारा युद्ध और सैनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। हम तो केवल जन मनोरंजन के हित अपनी कलाओं का प्रदर्शन करते हैं।" इतने में

ही उसने अपने पास खड़े हुए बड़ी ही अनोखी आकृति के दस मनुष्यों की ओर संकेत करते हुए कहा, "यह देखो हमारे पास यह दस महामूर्ख हैं जिनकी भोंडी आकृति देखते ही दर्शकों का हँसते हँसते पेट दुःखने लगता है।" इतने में ही चन्द्रिका के सहित दो और युवतियाँ जिन्होंने झलर मलर वस्त्र पहने हुए थे और बड़े ही आकर्षक ढंग से शृंगार किया था शिविर से निकल कर उसके पास आ खड़ी हुँई। उनकी संकेत कर वह पुनः कहने लगा, "और महाराज साथ ही साथ यह तीन नर्तकियाँ भी हैं। जिन में कंधार देश की अनुपम सुन्दरी चन्द्रकिरण भी है।"

उस नटराज के उत्तर की उसी भाँति क्रोध झुँझलाहट में प्रतिक्रिया हुई, "क्या बकता है ? सुन्दर नर्तकियाँ भी हैं तो उन्हें अब तक कहाँ छुपा रख , दिखाईं क्य ो नहीं ? ठहरो पहले मैं नीचे उतर कर उनकी परीक्षा करता हूँ।" उसके संकेत पर एक भारी सीढ़ी गुँबज से नीचे धरातल पर लटकाई गई फिर स्वयं भटराज सीढ़ी से नीचे उतरे। वह भारी भरकम शरीर का एक मांस का पिंड था, "कहाँ है वह नर्तकी ?" नीचे उतरते ही उन्होंने सब व्यक्तियों को अपने शरीर के विस्तार और सत्ता के रोब से डराना आरम्भ किया।

परन्तु छम छनन् छनन् एक पग पायल के साथ चन्द्रिका सामने आ खड़ी हुई। "मैं यह रही महाराज।"

भोग विलास और इन्द्रिय सुखों में रत वह संयम नाम का कोई शब्द नहीं जानते थे। चन्द्रिका को देखते ही एक दम उनकी राल टपक पड़ी और चीख कर बोले, "अरे वाह रे वाह ! तुम तो अनुपम सुन्दरी हो। क्या तुम नृत्य दिखाओगी ?"

दोनों हाथ जोड़ घुटनों तक शीश झुका कर नटखटता भरे स्वर में चन्द्रिका बोली, "जी महाराज ! आपकी आज्ञा सिर आँखों पर।"

परन्तु भटराज प्रथम दृष्ठि में ही चन्द्रिका पर मुग्ध हो गए और

ललचाए हुए स्वर में बोले, "नहीं, नहीं नर्तकी तुम हमारी आज्ञा सिर पर मत रखो, ऊंह यदि हो सके तो हमें ही अपने चरणों में रखलो ।"

"जो आज्ञा ।" अपने हास्य से सौन्दर्य के फूल बखेरते हुए चन्द्रिका चट से बोल पड़ी। सभी लोग अपने को संयमित रखते हुए भी थोड़ा बहुत हँस ही पड़े ।

औरों को इस प्रकार मुस्कराते हुए देखकर एकदम भटराज ने त्योरियाँ बदल लीं, "क्यों हँसते हो ? गर्दभ ! मर्कट ।"

रंग पलटते देख चन्द्रिका ने पुनः बात संभाल ली, "क्षमा करो महाराज, यह दस के दस नट महामूर्ख हैं। जैसे सियार का स्वर सुन-कर सियार बोलने लगता है । यह भी जहाँ किसी मूर्ख को देखते हैं हँसने लगते है और उन्हें हँसते देख किसी की भी हँसी नहीं रुकती ।" बात कहने के साथ ही वह पुनः अपना चित्त ाकर्षक हास्य हँस पड़ी ।

उस हास्य ने भटराज को फिर लट्टू कर लिया । बिना कुछ समझे ही गदगद होकर बोले, "सुन्दरी जब तुम हँसती हो तो सचमुच फूल बरसते हैं और...और," कुछ हकलाते हुए से गले से वह कहने लगे, "और मेरे मन में एक मधुमास सा छा जाता है। तुम चाहो तो नगर में क्या प्रसाद में भी घुस सकती हो। जहाँ चाहो वहाँ भ्रमण कर सकती हो ।" कहकर वह एक बड़ी भद्दी हँसी हँस पड़े ।

परन्तु चन्द्रिका ने उस हँसी की कुछ परवाह नहीं की और एक अनुनय-विनय से भरे स्वर में बोली, "यदि महाराज आप मेरी नाटक मण्डली को भी नगर परकोट में घुसने की अनुमति देदें तो मैं आपका अधिक मनोरंजन कर सकती हूँ ।" फिर उसने नटराज की ओर संकेत करके कहा, "देखिए महाराज इसका नाम यशोधर्म है। यह ऐसा हृदय ग्राही मृदंग बजाता है कि इसकी ताल पर मैं क्या, दसों दिशाएं नाच उठती है ।" फिर नटराज की ओर मुँह फेर कर कहने लगी, "हाँ सुनाओ, यशोधर्म, भटराज को अपना मृदंग वाद्य सुनाओ ।"

बिना महाराज के उत्तर की प्रतीक्षा किए ही नट ने कहा "जो आज्ञा" और अपने घुटने के नीचे एक मृदंग दबाकर बड़ी ही मादक धुन में बजाना आरम्भ कर दिया और साथ ही साथ, ताल से ताल मिला कर चन्द्रिका नाचने लगी। कला का वह एक बेजोड़ प्रदर्शन था। जिसे देखने के लिए परकोट पर चढ़े हुए सैनिक भी उत्सुक हो उठे।

परन्तु भटराज के पल्ले धूल भी न पड़ी और एक गहरी जंभाई लेने को उन्होंने अपना विकराल मुख फाड़ दिया, "आँ! आं! ठीक है, सैनिक।" उन्होंने आज्ञा के स्वर में पास खड़े हुए एक सैनिक को आदेश देना आरम्भ किया, "देखो यह नर्तकी जिन व्यक्तियों को अपने साथ नगर में ले जाए उन सब का नाम और काम धाम सब ठीक प्रकार से लिख लो। समझे तब तक मैं अपने प्रासाद में चल कर विश्राम करता हूँ। तुम तो जानते ही हो कि मुझे सूर्य उदय के साथ ही नींद आने लगती है।"

"जी महाराज।" अपने स्वभाव के अनुसार सैनिक ने आदेश स्वीकार कर लिया।

उसके बाद भटराज ने नर्तकी को भी आदेश दिया "नर्तकी तुम राजप्रासाद के दक्षिण ओर अपने वितान तान सकती हो। मैं शीघ्र ही तुम से पुनः भेंट करूंगा।"

फिर भटराज के संकेत पर तूर्य का नाद गगन में गूंज उठा और सिंह-द्वार में से एक छोटी खिड़की खुल गई। भटराज कुछ सैनिकों के सहित द्वार में प्रवेश कर गए। जाते जाते पुनः एक बार उन्होंने अपनी अधखुली विलासी आँखों से चन्द्रिका को देखा। चन्द्रिका ने तुरन्त ही कहा, "आपकी बड़ी कृपा हुई महाराज।"

भटराज के प्रस्थान करते ही चन्द्रिका उस सैनिक के सिर पर जा चढ़ी, "हूँ, लिखो सैनिक मेरा नाम चन्द्रकिरण, काम नर्तकी।" फिर

पास खड़े हुए यशोधर्म की ओर संकेत करके बोली, "इसका नाम यशाधर्म यह सूत्रधार है......नाटक के सभी सूत्रों का निदेशन करता है ।

सूत्रधार का नाम और काम धाम लिख लेने के बाद, सैनिक बोला "हूँ सूत्रधार ! चलो हटो जल्दी यहाँ से शीघ्रता करो ।"

तुरन्त ही दूसरे व्यक्ति को सामने खड़ा करके चन्द्रिका बोली, "यह व्यक्ति 'भरत' है नाटक मण्डली का संचालक ।

लिख लेने के बाद सैनिक बोला, "ठीक चलो ।"

दस बारह आदमी अब एक साथ ही चन्द्रिका का संकेत पा कर आगे बढ़ आए और उसने बड़ी जल्दी-जल्दी उनके नाम और काम धाम के विषय में बताना आरम्भ कर दिया, 'यह 'तौरय' है संगीत-निदेशक और इसके पास खड़े हुए यह पांचों व्यक्ति, मुकुटकृत, आभरणकृत, माल्यकृत, चित्रक और रजक हैं ।"

जब सैनिक से शीघ्रता से न लिखा गया तो वह झुँझलाकर बोला, "ओह नर्तकी मैं मनुष्य हूँ अथवा कोल्हू का बैल जो लिखता ही चला जाऊँ ?"

चट से उत्तर देते हुए चन्द्रिका बोल उठी उसके स्वर के साथ-साथ सकी हँसी भी खेल उठी, "न लिखो महाराज । यह तलवार चलाने वाले हाथ, लेखनी चलाने से दुःखने लगेंगे । लो मैं बड़ी सरल युक्ति बताती हूँ ।" एक क्षण अपने नयन मटका कर वह बोली, "कुछ क्षणों को यह परकोट का द्वार पूरा खोल दो और इस कष्ट के लिए यह पच्चीस स्वर्ण मुद्राएँ तुम्हें अर्पित हैं ।" उसने अपने युगल उरोजों के बीच चोली में छुपाई हुई मुद्राओं से भरी एक थैली सैनिक को दिखा कर कहा ।

लोभ के वशीभूत होकर सैनिक बोला, "ऐं यह पच्चीसस्वर्ण-मुद्राएँ केवल कुछ क्षणों के लिए द्वार खोलने के निमित्त " उसकी आँखें फटने लगीं ।

"केवल द्वार खोलने के निमित्त ।" अपने स्वर को साध कर और

मुद्राओं की थैली पुनः दिखाते हुए वह बोली ।

सैनिक तुरन्त उतावला होकर अपने स्थान पर खड़ा हो गया, "अच्छा चलो सब शीघ्रता करो दो घड़ी के लिए मैं द्वार खोले देता हूं । भाड़ में जाए यह बही और खाता । सब इधर उधर के नाम गाँव से इसे भर दूंगा ।" परन्तु एक दम ही कुछ सोच कर वह चन्द्रिका से बोला, "यह मुद्राएँ पहले मुझे हस्थगत करो ! पच्चीस स्वर्ण मुद्राएँ ! हूं ।' स्वर्ण मुद्राओं की थैली लेकर उसने एक बार आत्म-सन्तोष की सांस भरी ।

नगर परकोट का भारी द्वार खुलने की चरचराहट दूर तक सुनाई दी । सैंकड़ों मनुष्य एक साथ हर्ष ध्वनि कर उठे । जब कोलाहल के सहित हाथियों की चिंघाड़, गाड़ियों की गड़गड़ाहट घोड़ों की हिनहिनाहट का एक ऊँचा गगन भेदी स्वर उठा ।

बैलगाड़ी में बैठे हुए सत्य ने आश्चर्य से कहा, "अरे सुनों, यह कैसा कोलाहल है ?"

"गाड़ीवान देखो परकोट का द्वार खुल गया ।" भवभूति ने गाड़ीवान को हाथ से ठेलते हुए कहा ।

"यह तो अति आश्चर्यजनक है । कच ! कच !" बैलों को हाँकते हुए वह बोला । बैल भी एक दम दुम उठाकर ताबड़तोड़ दौड़ने लगे । बैलों के गले में बँधी हुई घंन्टियाँ ज़ोर जोर से बजने लगीं यहाँ तक कि वह गाड़ी भी सबके साथ नगर परकोट में घुस गई ।

दो घड़ी के बाद द्वार पूर्ववत बन्द हो गया ।

३

**

भारत के स्वर्णकाल में पाटलिपुत्र महान नगर था। गुप्तवन्शी राजाओं की वह राजधानी बना रहा, जिस के कारण उसके राजपथ पर श्रेष्ठियों के भव्य महलों का निर्माण हुआ था। उनमें से अधिकतर लकड़ी के बने हुए थे! जिन पर अनुपम कारीगरी की गई थी। जिस पर वैदिक, शैव और बौद्ध, जैन सभी धर्मों की छाप पड़ी थी। पाटलीपुत्र का एक लम्बा बाजार था। जिसके दोनों ओर हीरे मोतियों की अनेकों दुकाने थीं। मेवा और कपड़ों की भी आली-शान दुकाने थीं। अधिकतर श्रेष्ठी बौद्ध और जैन धर्मावलम्बी ही थे।

पाटलीपुत्र का व्यापार अधिकतर नौकाओं द्वारा होता था। श्रेष्ठियों के बड़े बड़े विहान निशदिन माल लादते और उतारते रहते थे जो अधिकतर बहूमूल्य पदार्थ पूर्व और पश्छिम से लाते थे। अत: पाटलीपुत्र में सदा विदेशी यात्रियों, व्यापारियों और अजनबी मनुष्यों का एक मेला लगा रहता था। जन-मनोरंजन के लिए नृत्य, नाटक, नट और कटपुतलियों के तमाशे नित होते रहते थे।

राजपथ के मध्य में एक बड़ा प्रासाद था। जिसके चारों ओर एक सुन्दर वाटिका बनी हुई थी।

उसके मध्य में एक बड़े वृक्ष की छाया में पीताम्बर धारण किए हुए एक योगेश्वरी साधू संगमरमर की शिला के आसन पर आसीन थे।

उनका शरीर अति जीर्ण हो गया था । उनके आसन के दोनों ओर दो सिंह शावक बैठे हुए थे । बाएं हाथ से वह एक कपोत-शिशु को नीवार खिला रहे थे । उनका शरीर लाल चीवर से परिवृत था । उनकी तेजस्वी मुख मुद्रा से जान पड़ता था मानो स्वयं यम नियम, आर्य दश-गुण और सारी विद्याओं ने मिल कर यहीं जन्म लिया हो ।

पास ही सोने के पात्र में ताम्बूल लिए हुए कंचुकी खड़ी थी जिस की अवस्था पंद्रह वर्ष से अधिक नहीं थी ।

सद्धर्म के प्रमुख उपदेशक वांग्याणिनि महायान शाखा के प्रमुख थे । उन्होंने कंचुकी की ओर एक बार कल्याणकारी दृष्टिपात करते हुए कहा, "तुम्हारी स्वामिनी का इतना आदर सत्कार पाकर मैं कृतार्थ हुआ ।"

एक कुशल प्रवीण कंचुकी की भांति वह तुरन्त ही बोली "महा-मान्य श्री वांग्पाणिनि जी, नर्तकी पार्वती मानवी नहीं देवी हैं । उनका औचित्य और सत्कार आम्रपाली के समान ही कल्याणकारी है । इस संसार में अन्य कहीं प्राप्त होना दुर्लभ है ।

"देवी पार्वती का अतिथि सत्कार अवश्य आम्रपाली सा ही दुर्लभ है ।" एक दीर्घ स्वांस भर कर वह बोले, "मगर मेरे करों में भगवान तथागत का सा कल्याण नहीं है ।"

तथागत का नाम सुनते ही एकदम कंचुकी बोली, "भगवान तथा-गत की जय हो ! मैंने देवी पार्वती से अनेकों बार सुना है कि आप मठाधीष धर्मगुरू हैं । सर्वज्ञ और पाप मोचक हैं । सैंकड़ों भिक्षुणियाँ आपकी चरण रज पाकर संसार से विरक्त हो निर्वाण पा गई हैं । पूर्व जन्म के कुछ संस्कारों के कारण मैंने भी आज आप के दर्शन पा लिए हैं । क्या अपने सद्धर्म उपदेश से मेरा कल्याण नहीं करोगे भगवान ?"

किसी आंतरिक प्रेरणा से विचलित होकर एकदम वांग्पाणिनि

कहने लगे, "ओह जैसी उदार स्वामिनि है वैसी ही भोली कंचुकी है।" फिर मन की एक स्थिरता के साथ वह बोले, "सच मानना कचुकी तुम्हारी स्वामिनी के समक्ष बोलने की मेरी क्षमता नहीं है।"

अंग अंग को सुन्दर आभुषणों से सजाए हुए और अंग प्रत्यंगों पर सुगन्धित लेप मले हुए तथा बालों और कलाईयों में फूल मालाएँ बाँधे हुए अप्सरा के समान आर्कषक सौन्दर्यमयी एक पूर्ण युवती, जिस पर अन्तिम छटा का यौवन दीप्त हो रहा था प्रासाद से निकल कर वांग्पाणिनि के समीप आती हुई दिखाई दी। जिसे देख कर कंचुकी ने आदर भाव से अपना मस्तक झुका लिया, "देखिए देवी पार्वती स्वयं ही आपके स्वागत को इधर चली आ रहीं हैं।"

कंचुकी की बात पूरी होते न होते स्वामिनि ने स्वयं ही बौद्ध भिक्षुक के आगे अपने समस्त सम्मान से हाथ जोड़ कर शीश झुका लिया।

"महाप्राण भगवान वांग्पाणिनि के चरणों में इस दासी का प्रणाम स्वीकार हो।" एक अति मृदुल कण्ठ से वह बोली।

"शान्ति लाभ हो, देवी! वास्तव में तुम्हारे अथिति सत्कार से हम बहुत प्रसन्न हुए हैं। आओ यहाँ मेरे समक्ष इस सिंहासन पर कुछ देर बैठो।"

देवी संगमरमर के एक सिंहासन के छोर पर बैठ गईं, 'मैंने तो आपकी इच्छा पूर्ति करके केवल अपना धर्म निभाया है महाराज।" फिर कुछ संकुचाते हुए कंचुकी को देख कर बोली, "कंचुकी जा तू चन्द्रिका के साथ खेल! तेरे बिना वह उदास हो रही होगी।"

"जो आज्ञा" कहकर उसी भाँति शीश झुकाए नत-नयन वह वहाँ से खिसक गई।

कुछ देर तक उस सुरभित उद्यान में एक निस्तब्धता छाई रही; फिर भिक्षुक ने ही शान्ति भंग करते हुए किसी अतीत के एक स्वप्न को देखते हुए कहा, ',क्या यही वह कदम्ब वृक्ष नहीं है देवी पार्वती ?"

दूर सघन निकुँज में एक वृद्ध वृक्ष को ओर इंगित करते हुए वांग्पाणिनि कहने लगे, "आज से कोई बीस वर्ष पूर्व, वह एक भीनी भीनी संध्या अपने में असीम सौन्दर्य और उस सौन्दर्य में एक माधुर्य और उस माधुर्य में एक असीम स्वाद और उस स्वाद में एक असीम तृप्ति और उस तृप्ति में एक असीम अतृप्ति छुपाए हुए मेरे युवक हृदय के द्वार पर आयीं थीं ।..."

बीच में ही बात काट कर, अग्नि शिखा के समान कुछ थिरकती हुई सी वह बोल उठी, "ओह ! मैं तब यह नहीं जानती थी कि एक धर्म निष्ठ, ऋद्ध-सिद्ध साधु में भी वासना बसती है।" कहते कहते एक आंतरिक उद्वेग से पार्वती का गात फड़कने लगा परन्तु वृद्ध भिक्षुक ने अपनी संयमित शांति से उत्तर दिया ।

"इतना अन्याय न करो पार्वती मेरे साथ । वो वासना नहीं थी। मैंने तुम्हें प्रेम किया था, वह जो मेरे लिए वंचित है । उस दिन चंचल बालक के समान मेरा हृदय तुम पर मचल पड़ा था और संसार से छुप कर मैंने उस प्रेमामृत को चखा था। बस यही पाप किया है जीवन में मैंने । मैं धर्म न निभा सका । परन्तु मेरे मन में एक और मन है वह कहता है यदि मैंने यह सब कुछ छुप कर न किया होता तो मैंने कोई पाप नहीं किया था ।" यद्यपि वृद्ध वांग्पाणिनि धीरे-धीरे ठहर-ठहर कर बोल रहे थे । फिर भी इस भाषण के बाद उनका दम फूल गया था ।

इस पर भी पार्वती उसी निर्मम वाणी में बिना उनकी बात पर कुछ ध्यान दिए ही बोलती रही, "तुम्हारे अन्दर जो देवता था मुझे देखते ही पुरुष हो गया । मेरी सौन्दर्य किरणों से चकाचौंध हो कर अंधा पशु हो गया । परन्तु नारी हृदय ने तुम्हारे उस पशु को फिर से मानव और मानव से देवता बना दिया । यही स्त्री-प्रेम न संसार और जंजाल था । जिसको ठुकरा कर तुम इस संसार से ऊँचा उठना चाहते थे ।

तुम्हारी इन अप्राकृतिक सिद्धिओं का स्तर स्वाभाविक प्रेम के सामने सदा नीचा रहेगा। सदा खण्ड खण्ड होकर गिरता रहेगा।" उसके आवेश में इतना आवेग उठ खड़ा हुआ था कि वह अपनी वाणी पर भी अधिक संयम न रख सकी थी।.........

उसके उन मर्म भेदी आक्षेपों ने वास्तव में वृद्ध के संयमी शांत हृदय को छलनी बना दिया। उनका अन्त:करण एक बार चीतकार कर उठा, "मुझे लांच्छित करके तुम अपने आपको निदोष सिद्ध नहीं कर सकतीं। यदि मुझ में कुछ निर्बलताएँ रहीं तो तुम्हारी महत्वाकांक्षाएँ भी तो कुछ कम नहीं रहीं। तुम राज नर्तकी बनना चाहती थीं।.........

"यहीं तक नहीं तुम मगध की सत्ता का चक्र अपनी उँगली की धुरी पर नचाना चाहती थीं और उसके लिए ही तुमने मुझसा उपयुक्त पात्र चुना।" फिर एक दीर्घ स्वांस छोड़कर वह बोले," जिस धर्म में चरण-रज के लिए लालायित धनवान श्रेष्ठियों की कमी नहीं। जिसके आतँक से राजा और सामंत तक कांप उठते हैं। जहां रूपवती और कुलवती निश दिन चरण पधारती हैं। कितना ही निर्जीव और अधर्म क्यों न हो भगवान बुद्ध के चलाए हुए उस धर्म के संचालन का प्रलोभन मैं न त्याग सका? बस यही न मेरा अपराध है? अन्यथा मैं धर्म गुरू नहीं एक चन्द्रकिरण सी सुँदर पुत्री का पिता हूँ। जिसे धन और सत्ता के लोभ में तुम मां होकर भी राजाओं और सामंतों को जीतने के लिए अपनी कुटिलता का खिलौना बनाना चाहती हो। जिसे मैंने संघारम में, आँखों के सामने बालिका से युवनी बनते देखा, परन्तु एक बार अँक में बिठा जी भर कर स्नेह से हाथ भी न फेर सका। उसके सुमन से मुख को मुस्कराते हुए भी न देख सका। पार्वती समझ पाओगी यह कितनी घनीभूत पीड़ा है? मेरे दम्भ का कितना कठोर दण्ड है? तुम्हारे ही कारण आज सामंतों की आज्ञा पर नाचने वाला बूढ़ा एक

कठपुतला बन गया हूँ । लो जान लो तुम्हारे निमित्त यह राजआज्ञा लाया हूँ । जितने प्रपँच तुम फैलाओगी उतनी ही फँसती जाओगी । तुम्हारा कहीं निस्तार न होगा ।"

राज मोहर लगा हुआ एक पत्र दिखाते हुए वृद्ध वांग्पाणिनि कुछ शान्त हुए । उनके शब्द बाण निश्प्रियोजन नहीं गए । तिलमिलाकर पार्वती ने उनके हाथ से पत्र लेते हुए कहा ।

"लाओ मैं पढ़ लेती हूँ ।" उतावली में वह वाग्पाणिनि को सुना कर पत्र पढ़ने लगी ।

एक ताड़ पत्र पर लिखा था, "देवी पार्वती, तुम्हारी पुत्री चन्द्रिका बौद्ध विहार के नियम तोड़कर, वासना के वश में हो एक मूर्तिकार के संग भाग निकली है । उसने अपने दुराचरण से समस्त विहारों को कलुषित कर दिया है । अत: मैं इस राजाज्ञा के साथ स्वयं महा प्राण वाँग्पाणिनि जी को भेज रहा हूँ । यदि वह भिक्षुणी तुम्हारे प्रासाद में आ छुपी हो तो शीघ्र से शीघ्र उसे पुन: संघारम में वापिस भेजने की व्यवस्था करें । धर्म नियमों का पालन करने से उसकी आत्मा भी उसके रूप की ही भांति सात्विक और निरविकार बन सकेगी । भगवान तुम्हें सदबुद्धि प्रदान करें । सामंत आदित्य ।

पत्र पढ़ कर चन्द्रिका एक कातर स्वर में बोली; "तुम पिता हो कर माँ के हृदय को क्या समझो ? पत्र से स्पष्ट है कि यह केवल सामंत आदित्य को प्रसन्न करने के लिए बौद्ध मठाधीशों की एक चाल है । जान रखो कि दुराचरण पर खड़ा किया हुआ कैसा ही विशाल धर्म क्यों न हो, टिक न सकेगा ?" एक सिहरन लेकर वह पुन: कहने लगी, "ओह देव ! नहीं ! नहीं ! मैं अपनी फूल सी कन्या को अब कभी बौद्ध भिक्षुणी नहीं बनाऊँगी । मैं उसे श्वेत और काषाय वस्त्र पहने हुए कभी नहीं देख सकती । अभी-अभी तो उस पर यौवन आया है । अभी

तो उसके खेलने और खाने के दिन हैं । तुम्हीं बताओ आचार्य, जिसने कभी कोई पाप नहीं किया उसे धर्मोपदेश देने की क्या आवश्यकता ? जो अभी लिप्त ही नहीं हुई उसे मुक्ति की क्या अभिलाषा ?" पार्वती का कण्ठ भर आया और उसके नयन छलकने लगे ।

परन्तु सध्दर्म के महान उपदेशक वाग्पाणिनि ने अपना धीरज नहीं छोड़ा । वह पार्वती को समझाते हुए कहने लगे, "मगर सामंत आदित्य की आज्ञा के उलँघन की शक्ति मगध में किसी को नहीं है । पार्वती पृथ्वी पर दीन और निर्बल की रक्षा के निमित्त, प्रेम और सत्य की महिमा के निमित्त ही तो कंचन वर्ण क्षीणकाय ज्योतिर्मय भगवान बुद्ध ने अवतार लिया था.........।"

परन्तु इन शब्दों ने पार्वती के हृदय पर उल्टा आग पर घी का काम किया । वह चिड़े हुए स्वर में बोली—

"वाह री समय की विडम्बना ! आज उसी हँस से पवित्र धर्म में ऐसा कौन सा पुण्य है जो पाप नहीं हो सकता ? मूक भोले प्राणियों के कल्याण के लिए जिस महा आयोजन का निर्माण हुआ था और आज वह ही अबलाओं पर अत्याचार ढाते हुए नहीं थकता ।"

परन्तु वांग्पाणिनि परास्त होने वाले नहीं थे । धर्म में उनकी श्रद्धा सच्ची थी, अपने प्राणों की समस्त शक्ति बटोर कर वह गम्भीर स्वर में उत्तर देने लगे, "नहीं, पार्वती सुनो । धर्म सदा कल्याणकारी है । इसमें जो कुछ है सो सब सच्चा अटल और पवित्र है । इसकी पवन में ही मुक्ति आनन्द और स्वर्ग है । जो स्वयं स्वच्छ है उसका सुधार क्या ?" इतना कहकर वह पूर्ण रूप से शांत हो गए ।

पार्वती का धर्म में अन्ध विश्वास न था उसमें विरोध करने की शक्ति भी थी । एक ओज पूर्ण कठोर स्वर में वह उसकी आलोचना करने लगी, "जहाँ सत कर्म की महिमा नहीं रही, जहाँ बुद्धि का विकास नहीं रहा, जहाँ अनुभूति का निर्मल आकाश नहीं रहा, परम्पराओं

की दासता, प्राचीन का मोह, अंध विश्वासों का अहकार और इस अहँ-कार में भूत सा घूमता हुआ स्वार्थ, ऐसा विकराल स्वार्थ, जोकि उस प्राचीन सँसकृति का जो कुछ महान, सुन्दर, प्रेममय था, सब निगल गया......" उसका आर्द्द कण्ठ पुन: भर आया परन्तु उसने बोलना बन्द न किया और सारी शक्ति लगाकर वह कह गई, "यही हड्डियों का ढांचा घिनौना अधर्म ही न तुम्हारा धर्म रह गया है ?" कुछ काल को वह एकदम उन्मत्त सी हो गई, "मठाधीष जाओ तुम चले जाओ। शीघ्रता करो कहीं तुम्हारे बौद्ध विहार अपने कुकर्म और पाप की आग में स्वयं जल कर भस्म न होने लगे। तुम्हारा यह जीर्ण धर्म तुम्हारी ही भांति अंतिम सांस भर रहा है, जाकर उसका उपचार करो कहीं वह इस पावन भूमि से सदा के लिए ही न चल बसे।"

परन्तु वांगपाणिनि की जो दशा उसने देखी उसे देख कर वह घबरा गई, "एँ। यह क्या वृद्ध मठाधीष सचमुच ही तुम्हारा प्राणांत हो गया? सचमुच ही तुम में अपने पुनीत धर्म की आलोचना सुनने की शक्ति नहीं थी। श्रद्धा पर ही तो भगवान का यह अस्तित्व टिका हुआ है, अन्यथा वह और क्या है ?" फिर एकदम ही वह अपनी भ्रान्ति से कुछ सचेत होकर चीख उठी, "अरे प्रतिहारी दौड़ो। वांगपा-णिनि मूर्च्छित हो गए हैं। इन्हें शय्या पर लिटा दो ! परन्तु नहीं धरती पर ही रहने दो। हा हन्त।"

७
***

समस्त उत्तर-पूर्व बौद्ध जगत के मठों, आश्रम और संघारामों में एक अनन्त शोक की छाया छा गई। सभी बौद्ध केन्द्रों में वांग्पाणिनि के निर्वाण और शान्ति लाभ के लिए सद्धर्म के उपदेश हुए। पाटलीपुत्र में बौद्ध धर्म की सार्वजनिक सभा हुई जिसमें प्रधान सद्धर्म के पद के लिए बौद्ध भिक्षुकों में संघर्ष आरम्भ हो गया। बौद्धों के आवेग से समस्त पाटलीपुत्र एक बार सावन भादों की घटाओं की भाँति आच्छादित हो गया। बौद्ध साधुओं की जन संख्या का उस समय कोई अनुमान नहीं जान पड़ता था।

राजप्रासाद में भी शोक सभा का आयोजन किया गया जिसमें सामंत आदित्य ने स्वयं भाग लिया। राजप्रासाद लकड़ी का बना हुआ था। जिसमें एक सुन्दर उद्यान था। अनेकों मन्दिर, अट्टालिकाएं और खम्बों पर छोटे छोटे गुम्बज बने थे जिन से छोटी छोटी घन्टिकाएं लटक रहीं थी। दिवालों पर हाथी, कमल, और संख की जहाँ तहाँ सुन्दर सुन्दर आकृतियाँ बनी हुई थी। इधर उधर अनेकों कंचुकियाँ, ताम्बूल वाहिनियाँ तथा परिचारिकाएं सामंत की सेवा में दौड़ धूप करती थीं। प्रासाद में ही उनके निवास के लिए छोटे छोटे मन्दिर बने हुए थे। महल के उद्यान में एक ओर नाटकशाला बनी हुई थी। महल में अनेकों गुप्त मार्ग खुलते थे। जिनके द्वारा गुप्त व्यक्तियों का प्रायः आवागमन होता था।

रजनी का तीसरा पहर था। सामंत शिव मन्दिर में पधारे। उनके साथ उनकी दो परिचारिकाएँ हाथ में उलकाएँ लिए हुए उनके मार्ग को प्रकाशित कर रही थीं। शिवालय में काले पत्थर का एक शिवलिंग बना था। पुजारी ने महाराज को शश्टांग प्रणाम किया और बैठने को मन्दिर के संगमरमरी धरातल पर एक सुन्दर आसन बिछा दिया।

"क्या काशी से महाकाल, काल भैरव के प्रधान पुजारी त्रिपुरारी अभी नहीं पधारे?" सामन्त ने पुजारी जी से एक रहस्यमय प्रश्न पूछा। वह दुर्बल काया के विलासी, क्रोधी उतावले पुरुष थे।

पुजारी ने उस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व पहले अपने चारों ओर
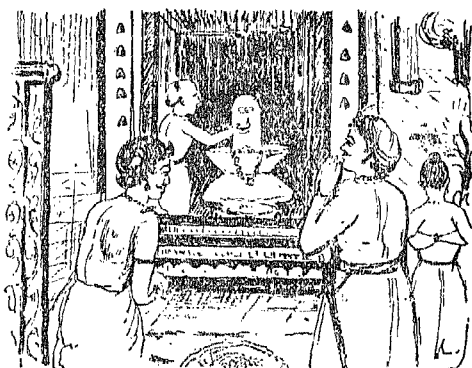
एक सशंक दृष्टिपात किया कि कहीं कोई उनकी बात तो नहीं सुन रहा है। फिर सामन्त के कान के पास अपना मुख लेजाकर फुसफुसाते हुए बोले, "महाराज वह उपस्थित हैं केवल आपकी आज्ञा की देर है?"

"हम उनसे भेंट करने को उत्सुक हैं।" सामन्त ने एक गर्वीले स्वर में कहा। पुजारी ने सामन्त की बात सुनते ही परिचारिका को अपने साथ आने का संकेत किया। शिवलिंग के पार्श्व में दीवाल के समीप पहुँच कर पुजारी ने दिवाल का एक पाषाण सहलता से हटा दिया और उसे ज़ोर से धक्का दिया जिसके कारण वहाँ एक द्वार सा खुल गया। कंचुकी के हाथ से उलका लेकर वह उसके भीतर घुस

गया। कुछ ही क्षणों के उपरान्त, महाकाल, कालभैरव के प्रधान पुजारी त्रिपुरारी को अपने साथ लेकर वह वहाँ पुनः उपस्थित हुआ।

त्रिपुरारी ने मन्दिर में प्रवेश करते ही अति कठोर स्वर में उच्चारण किया "जय शिव।"

सामन्त ने शीश झुका कर प्रणाम किया और अपना आसन पुजारी को विराजने को दिया। महाकाल का पुजारी स्वयं महाकाल सा ही दीख पड़ता था। अर्ध नग्न शरीर पर उसने सिंह छाला डाल रखी थी। तन्तू का एक जनेऊ पड़ा था। कान में सोने के बड़े बड़े कुण्डल, मादक विशाल नयन, गेरू से लाल होंट, विशाल ललाट पर गेरू के तिलक का महान विस्तार तथा शिर पर एक बल खाती इठलाती हुई लम्बी शिखा लहरा रही थी।

"प्रभू आपके दर्शन पाकर मैं कृतार्थ हुआ।" शिष्ठाचार और आदर से मिश्रित स्वर में सामन्त ने प्रधान पुजारी से कहा।

सुनकर त्रिपुरारी आशीश के स्वर में बोले, "भगवान शिव तुम्हें अभय करें। आज तुम से गुप्त मन्त्रणा करनी है और इसी लिए काशी से यहाँ तक मैं नौका से यात्रा कर के रात ही रात में पहुँचा हूँ।"

"महाप्रभु अपना प्रयोजन बतलाएँ मैं सुनने को तैयार हूं।"

"मैं सामन्त को सूचित करना चाहता हूँ कि कान्य कुब्ज के सम्राट यशोवर्मन ने अपनी भारी सेना मगध की सीमा पर एकत्रित करली है और उसके गुप्तचर पाटलीपुत्र में उपस्थित हैं। चण्डी-मण्डप के अधिष्ट्राता रौद्र की किसी ने हत्या कर दी है। प्रधान सद्धर्म प्रचारक की मृत्यु का बहाना लेकर सभी बौद्ध साम्प्रदाय पाटलीपुत्र में एकत्रित हो रहे हैं और इस में कुछ भी शंका नहीं कि उनकी सहानुभूति राजसत्ता के साथ नहीं है। समय आने पर वह अवश्य विश्वासघात करेंगे ?"

"सो तो मैं भी समझता हूँ परन्तु बौद्धों को अप्रसन्न करके राज्य

का संचालन करना कठिन है क्योंकि अधिकतर जनता उनके साथ है । उनका महायान सम्प्रदाय जनता के हृदय में अपना स्थान बना चुका है उन्हें छेड़ना राज्य के लिए शुभ न होगा ।"

त्रिपुरारी को शायद सामन्त की बात अच्छी नहीं लगी। अतः एक वक्र दृष्टि सामन्त पर डालते हुए वह बोले, "बौद्धों को अप्रसन्न करने की बात मैं नहीं कह रहा, मैं तो केवल उनसे सचेत रहने की बात कह रहा हूँ और साथ ही तुम्हें यह भी बताना चाहता हूँ कि यदि उनकी शक्ति का अनुमान तुमने नहीं लगाया तो एक दिन राज-पाट से हाथ धो बैठोगे ।" उनके मुख के भाव से स्पष्ट था कि महाकाल के प्रधान पुजारी रुष्ट हैं ।

सामन्त किसी भी दशा में इस समय उन्हें अप्रसन्न करना नहीं चाहता था । क्योंकि महाप्राण वाग्पाणिनि की मृत्यु के साथ ही साथ उसका प्रभाव भी बौद्धों पर कम हो गया था । अब उसके हाथ में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो बौद्धों को एक श्रृंखला में बांध सके । अतः शैवों का सहयोग प्राप्त करना राज्य के लिए अनिवार्य था । सामन्त ने एक विनीत स्वर में कहा, "महाराज आप कोई मार्ग बताएँ । जिससे कि वास्तव में राज्य का कल्याण हो और उसकी शक्ति बढ़े ।"

"वह तो एक ही मार्ग है कि इतने दिनों से उपेक्षित शैवों को राज्य-कोष से सहायता दी जाए । उन्हें पूर्ण रूप से कृपापात्र बनाया जाए ।"

"शैवों को सदा से ही राज्य की ओर से सहायता प्रदान होती रही है, प्रधान पुजारी ।"

"परन्तु उसके प्रतिरूप में हम देवदासी और नर्तकी भी तो राज-महलों में भेजते रहे हैं । परन्तु अब यह प्रथा रोकने का हमने निश्चय कर लिया है, क्योंकि हमें राज्य की ओर से वचन-बध धन राशी नहीं प्रदान की जाती । उसमें या तो बिना प्रयोजन ही देर की जाती है

अथवा आनाकानी की जाती है।"

सामन्त ने इस बार दाँतों से अपने होंठ काट कर कहा, "राज्य का प्रबन्ध में अब सुधार रहा हूँ जिसके कारण आपको इस सम्बन्ध में अधिक सुविधा प्रदान की जाएगी।"

"सामंत मुझे तुम पर विश्वास है। हाँ! एक बात और बताता हूँ। विश्वस्त सूत्रों से विदित हुआ है कि यशोवर्मन स्वयं पाटलीपुत्र में गुप्तचर बन कर घुस आया है।"

प्रधान पुजारी ने यह बात इतना महत्व देते हुए कही थी कि उसे विश्वास था कि इसे सुनते ही सामंत एक बार विचलित हो जाएगा।

परन्तु सामन्त ने बात हँसते हुए सुनी और कहा, "प्रधान पुजारी इस सम्बन्ध में तुम से अधिक मुझे विदित है। मैंने उसको बंदी बनवा लिया है।"

महाकाल का प्रधान पुजारी एक बार स्वयं ही विस्मय से चौंक उठा और बोला, "मुझे विश्यास नहीं।"

यह विश्वासनीय है। नर्तकी पार्वती ने उसे अपने गृह में बन्दी बना लिया है। परन्तु वह यशोवर्मन नहीं है केवल उसका एक गुप्तचर है।"

"आश्चर्य!" क्या एक राजनर्तकी इतनी शक्तिशाली हो गई है? यह भी शुभ नहीं है?"

"परन्तु पुजारी आप से एक अति गोपनीय बात है," कहकर सामंत ने संकेत से प्रतिहारियों और पुजारी को भी वहा से विलग कर दिया।"

दोनों एकांत में कुछ काल तक घुलमिल कर वार्तालाप करते रहे फिर सामन्त ने विश्राम करने की इच्छा प्रगट की।

प्रधान पुजारी ने सामन्त की मनोकामना पूर्ण करने का आश्वासन दिलाया और कहा कि अब के शिवरात्री का महान समारोह काशी में

काल भैरव के मन्दिर में मनाया जाएगा। जिसका उदघाटन देवदासियों के अनुपम नृत्य से किया जाएगा और सामन्त आदित्य को उसमें सम्मि-लित होना अनिवार्य होगा।

दोनों ही प्रसन्न मुद्रा के साथ एक दूसरे से विदा हुए।

८

***

पार्वती के प्रासाद के सुन्दर उद्यान में एक अति मनोरम निकुंज बना था। भांतिभांति के सहस्त्रों रंगों के फूलों की सुगंधियों से वह निकुंज सुरभित था। एक विशाल सुन्दर झूला वहां पड़ा हुआ था। उसी झूले पर चन्द्रिका न जाने कब से विचार मग्न बैठी थी। अपने पग की एक कोमल ठोगर से कभी-कभी वह उस झूले को एक गति दे देती और फिर अपने मन-भावों में कहीं खो जाती थी।

पच्छिम में सूर्य डूब रहा था। आकाश पीताम्बरी हो गया था। गंगा का विस्तार हीन और अनन्त प्रवाह सतरँगे क्षितिज से मिल रहा था जहाँ से कभी-कभी नौकाओं की पतवार उठती और समीप आती हुई दिखाई दे जाती थीं।

चन्द्रिका सोच रही थी कठोर नियम और बन्धनों से जकड़े हुए वाँग्पाणिनि के उस बौद्धमठ में, वह बालिका से युवती बनी। उसके मस्तिष्क में सत्य की पहचान और अनुभूति में सम्मोहन स्वप्नों ने जन्म लिया। किस भांति एक दिन उस शिल्पी को देखते ही प्रेम का एक स्त्रोत आप ही आप उसके हृदय से फूट पड़ा। वह कैसी एक अनमोल

भ्रान्ति थी जो उसके समस्त अन्तर-जगत पर छा गई थी। वह एक ऐसी सुरभी का प्रथम आवेग था जो कली के हृदय को फाड़कर फूल बना देता है और समस्त वातावरण को सुगन्धित और मस्त करता हुआ कहीं खो जाता है। उसका सत्य से प्रथम मिलन, प्रभँजन से भरी हुई एक रात को मठ से पलायन और फिर वह आत्मविस्मृति के अलौकिक क्षण मृत्यु से भी लड़ने का वह अनुपम बल। सभी कुछ कितना लुभावना, कितना सजीव था, जो केवल एक सुख भरी स्मृति छोड़ कर स्वप्न की तरह विलीन हो गया। क्या वह एक मृगतृष्णा मात्र ही थी, कोरी एक छलना थी, उसमें कोई वास्तविकता नहीं थी ?

कितना निश्छल, सौम्य, प्रममय वह क्षणिक सम्पर्क था ? कौन जाने उससे बिछुड़कर उस निर्दोष, निर्बल, क्षीणकाय सत्य का क्या हुआ हो ? मिलन-विच्छोह, सुख-दुःख, स्वप्न और सत्य, प्रप्ति और निवृति, इन अनोखी विषमताओं का नाम ही जीवन है।

कठोरता दुःख व्याधि और संताप के एक अनन्त मेरु में मृग की भांति जीव मृगजल के पीछे दौड़ता जाता है। जितना दौड़ता है उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है और सुख-सपनों का सागर दूर दूर होता जाता है। यही दौड़ जीवन है। क्या इसी मृगतृष्णा के लिए ही मनुष्य, पाप, पाखण्ड, प्रपंच, शत्रुता और घृणा का संसार रचता है एक दूसरे से कपट, धोखा और विश्वासघात करता है ?

अचानक उसके मस्तिष्क में किसी का ध्यान आया और वह भूला छोड़ कर उठ खड़ी हुई। आज से दस दिन पहले वह मां के समक्ष उस अनोखे पुरुष को लाई थी और कितने निश्छल भाव से उसने कहा था "मां यही कान्य-कुब्ज सम्राट् यशोवर्मन हैं।" तब उसके ऊपर सशंक और प्रश्न मयी कैसी एक क्रूर दृष्टि डालते हुए मां ने कहा था, "पागल लड़की, यह सम्राट् यशोवर्मन कभी नहीं हो सकता ?" मां का इतना कहना था कि वास्तव में ही उस पुरुष का मुख पीला पड़ गया।

कितनी करूणा और लज्जा से उस समय उसने देखा था, मानों वह आश्रय और प्राण भिक्षा मांग रहा हो। पर क्या वह उस समय कुछ भी समझ पाई थी ? मां की तीक्ष्ण दृष्टि तो जान पड़ती थी कि उसको भी निगल लेगी। परन्तु अचानक मां एक कठोर हँसी हँसते हुए बोली, "प्रतिहारी !" और मां के इंगित मात्र पर चन्द्रिका को देखते देखते अनेकों बलिष्ठ सैनिकों ने उस छद्मवेशी को बन्दी बना लिया।

मां से चन्द्रिका की अनुनय विनय सब बेकार सिद्ध हुई उसने कहा. "यह बन्दी के प्रति विश्वासघात होगा मां, इसे मैं अपने गृह में आश्रय का आश्वासन देकर लाई हूँ। इसने ही तो अपने साहस और पराक्रम से मेरी जान कपालिक से बचाई थी। क्या इसका यही पुरूस्कार उसे मिलेगा ?"

"अबोध बालिका तू आग से खेल रही है, राजनीति के प्रपंच तू अभी नहीं जानती। अतः तेरे लिए चुप रहना ही ठीक है।"

यद्यपि चन्द्रिका मां के समक्ष कुछ भी न बोल सकी। परन्तु उसका अन्तःकरण हाहाकार कर उठा। क्या उसके सरल अबोध जीवन का कहीं भी कोई महत्व नहीं है ? क्या वह मानव नहीं है, क्या संसार में उसका कोई आस्तित्व नहीं है ? क्या सत्ता के समक्ष मानवता का कोई स्थान नहीं ? क्या मां के लिए अपनी महत्वकांक्षाएँ ही सब कुछ है और उनके सामने सरल सत्य की कोई क्षमता नहीं है ? क्या सामंतों और श्रीमन्तो के आपसी गठबन्धन, कपट प्रपन्च और स्वार्थ के आगे अकिंचन मानव की सहृदयता, उदारता और प्रेम का कोई अर्थ नहीं है ?

चन्द्रिका के हृदय में अनेकों गहन प्रश्न रह रह के उठने लगे थे जिन्होंने उसे दिन प्रति दिन एक विद्रोही मानव बना दिया। उसके मस्तिष्क में दिन प्रति दिन एक क्रांति जन्म लेने लगीं-क्रांति जो सदा से मानव के अधिकार मांगती चली आई है, जो कठोर बंधनों के विरूध

जीवन की स्वतन्त्रता मांगती चली आई है। जो बूढ़े जीर्ण संसार में परिवर्तन का संचार करके नवयुग, नवसृष्टि रचती चली आई है।

उसनें सोचा मां शिवरात्रि के पर्व पर शिव पूजन को काशी गईं हैं यदि इस सुअवसर का लाभ उठा कर वह बन्दी को मुक्त करवा दे तो निस्संदेह उसके अनुग्रह के ऋण से मुक्त हो जाएगी। वह उस छदम्-वेशी पुरुष को यह समझा देगी कि यदि उसने एक बार उसकी जान बचाई थी तो वह भी इतनी हृदयहीना नहीं है कि उसकी सहायता न न करे। चाहे इसमें उसका कितना ही अनिष्ठ क्यों न छिपा हो ? उसने इस विचार को पूर्ण दृढ़ता से पकड़ लिया। दृढ़ निश्चय और संकल्प के साथ वह पुकारने लगी, "कंचुकी ! कंचुकी !"

उसी की आयु की एक चंचल, चुलबुली प्रतिहारी उसके पास आ खड़ी हुई, कुमारीचन्द्रिका मैं उपस्थित हूँ।"

चन्द्रिका ने एक स्नेह आतुर दृष्टि से प्रतिहारी को देखकर कहा, "कंचुकी, मां कब तक शिवपूजन से लौटकर आऐंगी ?"

"लगभग एक सप्ताह बाद। सामन्त, जब लौट कर आएँगे, तभी वह भी उनके साथ ही लौट आएँगी।"

"अच्छा सुन, क्या तू मेरी एक बात मानेंगी।"

"एक ही क्यों कुमारी, मैं अनेकों आज्ञाएँ पालन करूँगी।"

"तब क्या तू जानती है कि गुप्तचर कहाँ बन्दी बना कर रखा गया है ?"

"देवी, वह प्रासाद के बन्दीगृह में बन्द है। देवी पार्वती की आज्ञा है कि वह किसी दशा में प्रासाद से बाहर न जाने पाए ! राजकर्म-चारियों को भी उन्होंने उससे मिलने को मना कर दिया है। देवी उसको सामन्त को सौंपना नहीं चाहती। उसको शृंगार-कक्ष के पार्श्व वाली कोठरी में बन्द किया गया है और उस पर सैनिक निश दिन पहरा देते हैं।"

"तू यह सब कैसे जानती है, मेरी अच्छी कंचुकी ?" स्नेह से उसे अपनी बाहों में भर, एक गरम चुम्बन उसके कपोल पर अंकित करती हुई वह बोली ।

कंचुकी एक बार लज्जा से लाल हो गई । "यदि स्वामिनी मुझे क्षमादान करें तो मैं यह सारा भेद बता सकती हूँ ।"

"तू निर्भय होकर मुझे सब कुछ बता । मैं तुझे उपहार दूँगी, तू मेरी कंचुकी नहीं, सखी समान है ।"

भोली कंचुकी तुरंत चन्द्रिका को बताने लगी, कि जो प्रहरी उस जगह न्युक्त है वह उसी के ग्राम का है, उसका प्रियकंत है । जो वह चाहे सो उससे करा सकती है ।

दोनों ने मिलकर बन्दी को मुक्त करने की योजना बना ली ।

× × ×

"बन्दी उठो तुम मुक्त हो । शीघ्रता से जहाँ तुम्हारी इच्छा हो चले जाओ ।" रजनी के प्रथम पहर में बन्दी के कान में फुसफुसाते हुए चन्द्रिका बोली ।

"ऐं ! तुम चन्द्रिका, तुम मुझे बन्दीगृह से त्राण दिलाने आई हो ? ओह देवी, तुमने मुझ पर महान कृपा की । मैं तुम्हारा अनुग्रह मानता हूँ ।" कहकर एक बार उसने चन्द्रिका को देखा, बन्द कोठरी का खुला हुआ द्वार देखा, और उपेक्षा से मुँह फेर कर जहाँ का तहाँ लेटा रहा ।

"......तब तुम शीघ्रता से भाग क्यों नहीं जाते ?" उतावले स्वर में चन्द्रिका ने पुन: कहा ।

"मुझे कहीं भाग कर नहीं जाना । मुझे मुक्ति की चाह नहीं ।" संतोष की एक सांस भरते हुए बन्दी ने कहा ।

"जान लो, यदि राजकर्मचारियों ने तुम्हे पा लिया तो मृत्यु से कम दण्ड नहीं दिया जाएगा ?"

"सो तो मैं जानता हूँ, मृत्यु विधि का विधान है । एक अटल

निश्चय है उसका मुझे भय नहीं।"

"तब क्या तुम्हें जीवन की चाह नहीं है ?"

"उस जीवन की कौन चाह करे जहाँ मनुष्य मनुष्य का विश्वास न कर सके ! जहाँ प्रेम का अर्थ कपट हो। जहाँ सौन्दर्य भोले हृदय को छलता हो। जहाँ फूल सांप बन कर डस लेता हो।" चन्द्रिका पर एक रहस्यमयी दृष्टि डालते हुए बन्दी बोला।

"क्या तुम स्वयं ही उस छल और छदम् के प्रतीक नहीं हो ?" आवेश में भरकर चन्द्रिका ने उत्तर दिया, "जिसका न कोई नाम हो न पता ठिकाना हो, जो गिरगिट की भाँति पल पल में रंग बदलता रहे जो दूसरों के राज्य में सेंद लगा दे, जो घूँस बन कर दीवाल ढा दे.........।"

"खोखले, निर्बल, दुराचारी राज्य के प्रति विद्रोह और विश्वासघात करना कोई घात नहीं है, परन्तु भोले निश्छल, सरल व्यक्तियों के प्रति विश्वासघात करना ही घात है।"

विवश हो चन्द्रिका उस अभागे मनष्य के वाक जाल में फँसती चली गई, "तुम मुझ से क्या चाहते हो ?"

"मित्रता और विश्वास, जिस पर मानवता की नींव रखी हुई है।"

"मैं अपनी ओर से तुम्हें दोनों बातों का आश्वासन देती हूँ।" अकस्मात ही चन्द्रिका बोल उठी।

बन्दी आशातीत सफलता से एक बार उठ बैठा, "मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि मैं सदा तुम्हारा बन्दी बना रहूँगा। यह गृह मेरा कारा-गृह बना रहेगा। क्या देवी पार्वती प्रासाद में ही निवास करती हैं ?"

"नहीं, वह शिवरात्रि के पूजन को काशी गई हैं।"

"तुम क्यों नहीं गईं ? शिवरात्रि के पूजन पर काशी में अपार मेला जुड़ता है। सारा नगर सुँदर दुकानों से सज जाता है। मन्दिर में मिष्ठान और प्रसाद बटता है। नट भांति-भांति के करतब दिखाते हैं।

नाटकमण्डलियां चिताकर्षक नाटकों का प्रदर्शन करती हैं। युवक-युवतियां रंगरलियाँ मनाते हैं मन्दिरों में अनुपम सुँदरी देवदासियाँ नृत्य दिखातीं हैं । आओ, हम भी भेश बदल कर काशी चलें । निश्चय जानो देवी पार्वती के लौटने के पूर्व ही हम पुनः प्रासाद में लौट आयेंगे। किसी को कानोकान भी खबर नहीं होगी ।"

चन्द्रिका के मन में, सचमुच ही बन्दी की योजना सुनकर एक नट-खट विचार आया, "तुम्हारे मृदंग पर मैं वही अपूर्व नाच जो तुमने मुझे सिखाया है काल भैरव के मन्दिर में, नाचूंगी। सच......हाँ अब बोलो तुम्हें किस नाम से पुकारूँ ?"

"मेरा नाम धर्मशील है चन्द्रिका, और इसमें कोई छल नहीं है, विश्वास करो।"

"विश्वास ?" वह तनिक मुस्करा दी, "सो तुम पर करना सरल नहीं है । तुम में छलने की क्षमता भी नहीं है। तुम केवल एक अनोखे अभिनेता हो, कलाकार हो, तुम रंग बदलना, छदम्वेश धारण करना खूब जानते हो। नृत्य करना, खड्ग घुमाना, तीर संधान करना, अश्वा-रोहण, आपत्ति में धीरज रखना और भय में मस्तिष्क का संतुलन न खोना, जो मैंने एक अलपकाल में ही तुमसे सीखा है, तुम्हारे आगे मुझे श्रद्धा से नत कर देता है।"

वास्तव में ही चन्द्रिका ने अपना शीश धर्मशील के आगे झुका लिया ।

एक उन्मुक्त हास क्षण भर को बन्दीगृह की संकीर्ण कोठरी में गूंज उठा और तत्काल ही वह दोनों रात्रि के प्रथम पहर में प्रासाद से कहीं दूर निकल गए । उन उन्मुक्त मानवों की भाँति जिन्हें समाज और संसार के बंधन क्या संस्कृति के बंधन भी नहीं बांध सकते ।

उसी रात कंचुकी और प्रहरी ने विवाह करने का दृढ़ निश्चय कर लिया ।

युवक प्रहरी कह रहा था, "सुन्दरी इस वर्ष तो हमारे खेत में जौ बाजरा खूब फलेगा। उसके चारों ओर मैंने मेंहदी की कटीली बाड़ लगाई है।"

"तो तुम्हारे उस मधुर प्यार को पाने के लिए अब संकरे पथ पर न जाने कितने काँटो से उलझना पड़ेगा ? उस मधुर प्यार के कुंज में जाने को, शूलों पर से चलना होगा क्या ?"

"सुन्दरी तुझे पैरों कौन चलने देगा ? मेंहदी की वह बाड़ तो तेरे गोरे हाथ-पैरों को रंगने में ही सब समाप्त हो जाएगी।"

"जान रखो, मैं नई नवेली वधु के समान मेंहदी लगा कर घर में घूँघट काढ़ कर नहीं बैठी रहूँगी। तुम्हारे पाषाण हृदय को प्रसन्न करने के लिए छाया के समान तुम्हारे संग ही संग घूमती फिरूँगी।"

"मेरा हृदय क्या तेरी मदमाती चाल से भी अधिक कुटिल है ?" अपनी चाल की कुटिलता की बात सुन कर युवती चिढ़ गई।

"जाओ तो फिर, तुम्हारे साथ चलने को कौन उधार बैठा है ?"

"और तुम से बोल ही कौन रहा है ?"

रूठ कर कंचुकी बोली, ''तो लो मैं प्रासाद से सदा को चली जाती हूँ। कोई नहीं बोलता तो यहाँ ही किसे पड़ी है ? अपने ग्राम पहुँच कर सखी सहेलियों से बातें करूँगी, और कोई नहीं मिलेगा तो पंक्षियों से और इस आकाश के सुन्दर चन्द्रमा से बातें करूँगी।''

युवक बोला, ''हाँ चन्द्रमा ही तो आकाश से उतर कर आएगा तेरा रूप निहारने ?''

कंचुकी क्रोध से भर कर वहाँ से चल दी, अपने सुन्दर सजीव ग्राम की ओर और उसके पीछे-पीछे, विरह के मिलन बांसुरी पर गीत गाता हुआ प्रेम-पाश से बँधा हुआ युवक प्रहरी चलता रहा।

६

***

शिवपुरी काशी की शोभा अजर-अमर है । जिस संस्कृति के जो ऊँचे आदर्श हैं, सच्चे संदेश हैं, समय के सिद्धांत हैं, वह अजर अमर है । एक देवदासी थी, अपने घुटनों से मुड़े पैरों पर बैठी थी, हाथ जोड़कर पृथ्वी पर टेके थे, उन पर शीश धरा था, आगे फूलों का ढेर लगा था—वह देवदासी नहीं पूजा थी ।

एक अवधूत था । एक हाथ में कमण्डल एक में माला थी । नयन मुँदे थे । ज्ञान चक्षु खुले थे । बगल में मृगछाला थी। वह अवधूत नहीं-त्याग था ।

एक मृगनैना गंगा के घाट की सबसे निचली सीढ़ी पर खड़ी थी । लहर आती थी उसके दूध के रंग के पैरों को धो जाती थी । चार-पांच बरस का एक बालक पास खड़ा था । एक युवक उससे ऊपर की सीढ़ी पर खड़ा था । स्त्री की अँजली से जल की बूंदे टपक रही थीं । बालक ने दौने में धर कर एक दीप बहाया था । यह गृहस्थी नहीं—भक्ति, आनन्द और प्रेम थे—सुखमय संसार !

झिलमिल करते अनेक दीप-दौनों की नौकाएँ जल-पक्षियों सी तैरती जा रहीं थीं, युगों से बहती आई सुरसरी गंगा की धारा पर ऐसी लगती थीं जैसे चाँद-तारों से जाज्वल्य मान अनुभूति के आकाश के नीचे कल्पना के निर्मल जल में प्रीति के, नवसृष्टि के, नवसृजन के, आदि के अन्त के, संसृति के, जगमग मधुर संगीत मय स्वप्न जग उठे हों ।

एसे अनुपम प्रतीक अनौखे सौन्दर्य से भरे, संगमरमर की सौपान और चबूतरे जिन पर चन्द्रमा भी उतर आता था, शिवालय, देव-स्थान और मन्दिरों से घिरा हुआ भारत का सर्वश्रेष्ठ यह तीर्थ उस काल में भारतीय संस्कृति की सौन्दर्य नगरी थी।

इसी देवपुरी में शिवरात्रि का अपूर्व पर्व था। धर्म, भक्ति, वैराग की पावन भावनाओं से ओत-प्रोत जन साधारण अशान्त सागर की लहरों के समान उमड़ते चले आ रहे थे। न जाने कितने मार्ग थे, कितने यात्री थे, कितने साधन थे परन्तु सब का एक ही लक्ष्य और एक ही मंजिल थी।

क्या पृथ्वी पर स्वर्ग नहीं है? होता तो क्या उसको पाने की मानव में इतनी उमंग होती? क्या मर कर मुक्त होने की लालसा जीवन में मुक्ति पाने की इच्छा से अधिक प्रबल नहीं है?

धर्म पथ पर साधुओं की मण्डलियों पर मण्डलियाँ आगे बढ़ रहीं थीं। एक दूसरे से होड़ लगा रहीं थीं। सुन्दर सुडौल दिगम्बर शरीर थे जिन पर भभूत के रंग चढ़े थे। त्याग पर सिध्दियाँ चढ़ीं थीं। ऋद्धि-सिद्धियों से भृकुटियाँ तनीं थीं। उन्नत विशाल ललाट पर गिरी सी जटाजूट खड़ी थीं। कटि पर किसी के सोने की जंजीर थी जिससे गहरे लाल लंगोटे वंधे थे। सभी के तेजोमय मुखमण्डल थे। विशाल लाल नयनों में घमण्ड, घृणा, प्रकोप और मद्य भरा था। सहस्त्रों अवधूतों के सँग मस्त मतंग भूमते चल रहे थे, कामनी से इतराते, शान से इठलाते बढ़ रहे थे। उनकी कमर पर रेशम की डोरियों से जकड़े हुए जड़ाऊ ओहदे भूल रहे थे। लाल मखमली सिंहासनों पर तपस्वी और योगी बैठे थे। चिमटों की धुन पर जय शिव! जय शंकर!! जय प्रलयँकर!!! अलख निरन्जन!!! हर हर महादेव!! का घोर गगन भेदी शब्द-घोष सर्वत्र गूँज रहा था।

नांगों की, सिद्धों, कपालिकों की अघोरियों की यह सैनाएँ जिस

पथ से निकल जाती थीं, गगन काँपता था, पृथ्वी डोल उठती थी।

इस धर्म परायण ऋषि भूमि पर जहाँ अनेकों अवतार हुए, जहाँ अनेकों मत बने, जहाँ अनेकों पंथ चले, वहाँ केवल दिगम्बर ही नहीं जुड़े थे श्वेताम्बर, पीताम्बर भी थे। कुछ का मन रंगीला था, कुछ का जीवन रंगीला था।

इन सब गुरूजनों, अवधूत और साधुओं के श्री चरणों में लौट रही थी देव दुर्लभा भारत भूमि की भोली भाली धर्म भीरू जनता। उमंग और भावनाओं से भरी श्रद्धा-भक्ति की मूर्तिमान स्त्रियाँ पुष्प भरे आंचल और आंसू भरे नयन लिए प्रति पल उन पर मचल रहीं थीं।

यह भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम स्थान जो सतयुग से प्रति वर्ष अनोखी विभूतियों, अलौकिक सभ्यता, प्राचीन तपोवन, नवीन ज्योतियों, सुन्दर आकृतियों और समुधर ध्वनियों से जग उठता था; एक बार फिर जाग उठा था।

लाल-लाल पताकाओं से आकाश भर गया था। शंख घन्टे और घड़ियालों के स्वर से मन्दिर भर गए थे। जगमगाती दुकानों और बाजारों से नगरी भर गई थी। सांझ-सवेरे के अर्चन के फूल पल्लवों और दीपिकाओं से काल भैरव के मन्दिर का चौक भर गया। न जाने कितनी इहलोक और स्वर्ग लोक की कल्पनाओं से कुंभ की अपूर्व-पर्व भर गई थी। यह सनातन विचार थे, धार्मिक विश्वास थे। इन सब में परमेश्वर की रचना थी। आज का पोला परमेश्वर नहीं वह परमेश्वर जो सतयुग का परमेश्वर था। मानव से परे की बात थी। खण्डन मण्डन से ऊपर थी।

× × ×

गले में जगमगाती अमूल्य मुक्ता-मणियों की माला डाले, बेशकीमती रेशमी वस्त्र पहने, भीमकाय बेडोल शरीर में अनेकों प्रकार की सुगन्धियाँ रमाए, नयनों में चौड़ा चौड़ा काजल डाले, बांए गाल में एक

पान का बीड़ा दबाए और उसके कत्थे से अपने मोटे मोटे होंट रंग हुए तथा विशाल कानों में सोने के कुण्डल डाले पाटलीपुत्र के नगरपाल भटराज दिग्पाल चार्वाक जी महाराज आनन्द और मौज में भरे मेले का दिग्दर्शन कर रहे थे ।

संगमरमर के चौक और सीढ़ियों पर छोटी छोटी फूल-दौने, मालाओं तथा फूल पंखड़ियों की दुकाने लगीं थीं । इन दुकानों पर अधिकतर स्त्री और बालक बैठे थे जो कोई भी मन्दिर में जाता था, देवता को चढ़ाने के लिए फूल मोल लेता था ।

मोहन भोग और मिष्ठानों की बड़ी बड़ी दुकाने सजी थीं जिन्हे देख कर भटराज मन ही मन सोच रहे थे कि देवता के भोग लगाने से जो परसाद हो जाता है उस मिष्ठान से आत्मा ही नहीं जीभ भी तृप्त होती है और यही नहीं मिष्ठानों की दुकानों के साथ साथ भांग धतूरे और मदिरा की दुकानों में तो स्वर्ग के सुखों का रस निचोड़ कर रखा हुआ है, आखिर शिवालयों में इन्हीं का भोग जो लगता है ।

तेज प्रकाश से जगमगाती हुई एक छोटी सी मोड़ पर दुकान थी । फूलों के ढेर से भरी थी । सैंकड़ों फूल मालाएँ झूल रहीं थीं । कितने ही गुलदस्ते झूम रहे थे । एक ओर आक के पत्तों और धतूरों का ढ़ेर लगा था । भांग घुट रही थी । मदिरा भी थी । उसी दुकान में एक पनवाड़ी भी था । मीठे कड़वे, बनारसी, सभी प्रकार के पानों की गिलोरियाँ बना बना कर चाँदी के वरकों में लपेटता जाता था । उस के पास ही एक बड़ा मृदंग बड़े करीने के साथ सजा हुआ रखा था जिसे अपने पैर के घुटने से दबाए धर्म शील बैठा था । चन्द्रिका वक्षः-स्थल तक फूलों से ढ़की बैठी थी । उसने मोतियों की कलियों की माला अभी पिरो कर की पूरी थी । उसे सुगंधित तेल से चमकते-भुजंग काले बालों के जूड़े पर बाँध रही थी । कलाईयों पर दो फूलों के गजरे बंधे थे । गोरी गोरी बाहें, बगल, गर्दन और कन्धे सब नँगे थे । उसने

अपने शरीर को और भी अधिक गोरा करने को किसी चीज का लेप मला था जो तेज़ प्रकाश में उसके सौन्दर्य को चमका रहा था। आकृति के कटाओ बड़े तीखे थे। बड़े बड़े काजल भरे तीर से नयन थे। चंचल वह पल भर को भी स्थिर नहीं रहते थे।

दूकान के आगे भारी भीड़ जमा थी। मदिरा पाने को? नहीं यह नयन उत्सुक थे कुछ देखने को। सब प्रतीक्षा में शान्त स्थिर खड़े थे। क्या होने वाला था?

अचानक धर्नशील ने मृदंग पर एक थाप दी जिस के संग एक साथ दसों दिशाएँ झूम उठीं। चन्द्रिका के मुख पर एक मुस्कान सजीव हो गई। एक बार उसने कलाकार के पूर्ण गर्व से उस उत्सुक भीड़ को देखा। धीरे धीरे फूलों में छुपे पैर में बंधे घुँघरू से एक ताल दी। अग्नि की लपट सी थिरकती हुई वह धीरे धीरे ऊपर उठने लगी। फूल झरने लगे। एक बार उसने अपने पन्जे विपरीत दिशा में कर के दोनों एड़ियां मिलाईं। दोनों हाथ जोड़, घुटनों को दबा चक्र सा बना, 'छू' कह ऊपर को उछली। 'छम' पैर फिर पृथ्वी पर आ पड़े—
"छनन् छनन्-छूम! छनन्-छूम-छूम, छनन् छूम-छूम........."

सब फूल झर गए। जो कोई भी वहाँ खड़ा था पल भर को खो गया। सुध-बुध सब भूल गया। मदन तरंगों से वह नृत्य तरंगित था। अपनी फूल मालाएँ, मदिरा और भाँग बेचने से पनवारी को होश नहीं मिल रहा था। शायद दुकान उसी की थी। इस नवीन नर्तकी के प्रति उसका मन श्रद्धा और भक्ति से उमड़ा पड़ता था। वह मन ही मन काशीश्वर शंकर से प्रार्थना कर रहा था कि वह मानव के इस सुन्दर जोड़े को सदा सुखी रखें।

धीरे धीरे नृत्य का अवसान हो गया। क्षण भर को लगा मानों संसार स्थिर हो गया हो। स्थिरता भी तो नृत्य का एक अंग है। जैसे वह उठी थी वैसे ही फिर बैठ गई और अपने शरीर को फूलों से

फिर ढकने लगी ।

अचानक जन-समूह का उन्मुक्त कण्ठ में उल्लास फूट पड़ा ।" अति सुन्दर ! अति सुन्दर ! साधु ! साध !! "अति उत्तम वाह ! वाह !! क्या कहने ।" लोगों की करतल ध्वनियाँ सीमा पार कर गईं । एक से एक ऊँची आवाज उठने लगी, "धन्य हो सुन्दरी ! धन्य हो !" दूसरी आवाज, "यह नर्तकी नहीं देवदासी है ।"

तीसरी आवाज, "अवश्य ही इसे काल भैरव के चौक में ले चलो।"

"क्या कहने इस मृदंग वाद्य और नृत्य के ।"

"सौंदर्य का एक स्त्रोत फूट निकला था ।"

"आकाश से फूलों की वर्षा हो रही थी ।"

"नर्तकी और नट दोनों ने ही कला की पराकाष्ठा कर दी !" इतने में ही अपने सप्तम स्वर पर पनवाड़ी चीखने लगा, "आओ जवानों सोम-रस पियो ! बूटी का रस है । नाच है । रूप-रंग है । फूल मालाएँ और ताम्बूल हैं । यहाँ जाति धर्म का भेद नहीं । आओ नवयुवकों अपनी प्रेमिकाओं के साज-सिंगार मुझ से ले जाओ । यह अनुपम क्षण यों ही न गँवाओ ।" यह देखकर कि लोगों की भीड़ छट रही है वह पुनः दीर्घ स्वर में चिल्लाया, "अभी नृत्य समाप्त नहीं हुआ है । अभी और प्रतीक्षा करो । यदि कोई इससे भी अच्छा मृदंग बजाएगा तो उसे भी बिना संकोच के अवसर दिया जाएगा ।"

लोगों के कण्ठों से पुनः कोलाहल गूंज उठा । भीड़ बढ़ने लगी । इसी बीच सबसे ऊँचा रोबीला भटराज का भारी भरकम स्वर सुनाई दिया, "सब शांत हो जाओ । मैं कहता हूँ सब शांत हो जाओ । इसी समय शांत हो जाओ ।"

लोगों का कोलाहल तनिक भी शांत नहीं हुआ, प्रतिउत्तर वह और भी बढ़ गया ।

"हे काशी के नगरवासियो ! क्या तुम अभी तक पहचाने नहीं

कि तुम्हारे आगे कौन खड़ा है ? तुम किसकी आज्ञाओं का उलँघन कर रहे हो, क्या तुम जानते हो ? मैं पाटलीपुत्र का नगरपाल भटराज दिग्पाल चार्वाक हूँ। मैं सामंत आदित्य का जामाता अपने सम्पूर्ण शरीर से, साक्षात रूप में विराजमान हूँ। तुम अब तक खड़े-खड़े क्या दांत निकाल रहे हो ?" क्रोध से लाल पीले होते हुए भटराज ने भीड़ को धमकाना शुरू किया।

"प्रणाम करो !"

इतने में ही भीड़ में से किसी ने बड़ी तीखी आवाज में भटराज को चिढ़ाना आरम्भ किया, "गणेश ! गणेश !! गणेश !!! गोबरगणेश !

सुनते ही भटराज के तन-बदन में आग लग गई वह भालू की भांति उछल उछल कर बोलने लगे, "अरे यह कौन बकवादी है जो गणेश-चिल्ला रहा है ? क्या उसने अभी तक हमारा क्रोध नहीं देखा है ? हमारे पेट का अर्ध व्यास केवल सोलह बालिश्त है। मगर हमारे गणेश की भाँति हस्थ मुख कहाँ है ? शुँड और दंत कहाँ है ? यह मुखार-बिन्द तो रमणी मनोहर है। सावधान, जो फिर किसी ने गणेश का उच्चा-रण किया अथवा पाटलीपुत्र की इस फल से भी अधिक सुन्दर नर्तकी पर कोई आक्षेप किया। दस्यू ! डोम ! कहीं के !"

चन्द्रिका ने भटराज को देखा तो सकपका गई फिर भी उसने एक बार उन्हें शांत करने का प्रयत्न किया, "क्षमा करो नगरपाल, भटराज-दिग्पाल चार्वाक जी महाराज। मैं सब जन साधारण की ओर से आपके चरणों में प्रणाम करती हूँ। आपका स्वागत है।

हास उल्लास से पुलकते हुए भटराज एक दम चन्द्रिका की बात सुनते ही फूट पड़े, "वाह तुन्दरी ! वाह !! तुमने हमारा रोम-रोम आनन्दित कर दिया है। हम तुम्हारे रूप और शील दोनों का ही उचित मूल्य देंगे।" फिर भीड़ को ललकारते हुए वह एक दम कड़क कर बोले, "हम को छोड़ कर यहाँ है कोई जो इस रूप पर पाँच स्वर्ण-मुद्राएँ

नौछावर कर सके ?" कह कर भटराज ने पाँच स्वर्ण-मुद्राएँ पनवाड़ी के आगे फेंक दी।

सबके हृदय में बात तीर सी चुभ गई। परन्तु जनसाधारण सब शांत खड़े रहे।

पनवाड़ी ने हाथ जोड़ कर भटराज को मुद्राएँ वापिस लौटाने का प्रयत्न किया, "महाराज यह दोनों धन के लिए नृत्य नहीं करते यह तो केवल कलाकार हैं, जन मनोरंजन के लिए अपनी कला का प्रदर्शन करते है, कृपया यह धन वापिस लेलीजीए।"

"चुप रहो!" भटराज और भी अकड़ कर बोले, "मैं इसे ही नहीं इसकी मां को भी जानता हूँ, वह भी नर्तकी है। तब यह कैसे नर्तकी नहीं है ?"

सुनते ही सभी व्यक्ति एक बार उत्सुकता से चीख उठे ! "यह नर्तकी है ?"

लज्जा और क्षोभ से अपने दोनों घुटनों के बीच मुँह छिपा कर चन्द्रिका जहाँ की तहाँ मूर्तिवत हो गई।

इतने में ही पुनः विकराल एक हास्य ध्वनि भटराज के कण्ठ से फूट निकली।

उसी समय जो घटना घटी उसने आश्चर्य से लोगों को किंकर्तव्य विमूढ़ कर दिया। जनता में एक अति दुर्बल क्षीणकाय परन्तु ज्योतिमय सौम्य आकृति का काषाय वस्त्र धारण किए साधू, भटराज के समक्ष खड़ा होकर बोला, "इस सुन्दरी के नृत्य पर मैं दस स्वर्ण-मुद्राएँ नौछावर करता हूँ।" उसके कहने के साथ-साथ ही खनखनाती हुई दस मुद्राएँ चन्द्रिका के पास आ पड़ीं।

एक साधु को इस भाँति नर्तकी के समक्ष खड़ा देख, भटराज उत्तेजित होकर बोले, "इतना साहस ? क्या तुम इस नगर में नए आए हो, भिक्षुक ?"

"मैं तुम्हें उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं ।" शांति से साधू ने कहा ।

"अच्छा यह बात है तो मैं इस सुन्दरी पर पन्द्रह स्वर्ण मुद्राएँ नौछावर करता हूँ ।" उपेक्षा से उस हीन साधु को देखते हुए भटराज एक कर्कश स्वर में बोले । साथ ही उन्होंने १५ स्वर्ण-मुद्राएँ पनवाड़ी के समक्ष पुनः फेंक दीं ।

भीड़ में से एक उल्लास भरा एक जनरव फूट पड़ा । "धन्य हो अन्नदाता !" एक मूर्ख की भाँति पनवाड़ी बोल उठा ।

परन्तु उसी समय पुनः मुद्राओं की एक वर्षा सी उसकी दुकान में हुई और उस साधू का क्षीण कोमल कण्ठ सुनाई दिया, "मैं तीस स्वर्ण-मद्राएँ केवल इसकी एक बांकी चितवन पर नौछावर करता हूँ ।" जन-रव पुनः गूँज उठा ।

यह सुनते ही भटराज एक दम आग बबूला होकर धहाड़ने लगे, "तुम सोए हुए सिंह को जगा रहे हो प्रवासी ! तुम धन से मझे नीचा दिखाना चाहते हो ? मैं कोई तुम्हारी भाँति काषाय वस्त्रों में छिपा हुआ कँजूस श्रेष्ठि नहीं हूँ । धन संचय मेरे जीवन का उद्देश्य नहीं है । मैं मनमौजी एक चार्वाक हूँ । देखो जन साधारण आँखें फाड़कर देखो आज बौद्ध धर्म का कैसा अधःपतन हो गया है ? इन काषाय वस्त्रों में त्याग नहीं पाप छुपा है ।" दर्शक वास्तव में ही घृणा से छीः छीः कर उठे ।

भटराज कहते गए, "मैं तुम ढ़ोंगी साधुओं से पराजित होने वाला नहीं । मैं अपना यह चमचमाता हुआ खड्ग इस सुन्दरी को धरोहर के रूप में देता हूँ । इस खड्ग को दिखा कर सुन्दरी कभी भी और कितना भी धन तुम मेरे गृह से ला सकती हो ।" भटराज ने अपना खड्ग

पनवाड़ी के समक्ष डाल दिया। जनरव पुनः उसी भाँति गूंज उठा।

"सुन्दरी लो यह अनमोल मणिकाओं का पिरोया हुआ हार मैं तुम्हें अर्पण करता हूँ। इस हार का मूल्य ही इतना है जिसको पाकर तुम्हें जीवन पर्यन्त कोई अभाव नहीं रहेगा।" तुरन्त ही साधु ने वह अनमोल हार मृदंग के ऊपर फेंक दिया।

उस हार को देखते ही इतनी देर से शान्त बैठा हुआ धर्मशील एक दम बोल उठा, "धन्य साधु! तुम धन्य हो! तुम्हारे जैसा उदार साधु मैंने आज तक नहीं देखा। ओह यह हार नहीं यह तो तुम्हारा सर्वस्व है।" उस हार को देख कर लोगों की आँखें फटने लगीं।

परन्तु क्रोध से पागल होकर भटराज ऊटपटाँग बकने लगे, "ओ बौद्ध भिक्षुक तू बहुत उदण्ड है तुझे अपने वस्त्र, धर्म, और प्रतिष्ठा का कुछ भी ध्यान नहीं, नराधम! प्रतीत होता है कि तू कोई राजद्रोही है। तुझे विदित होना चाहिए आजकल मगध की सत्ता अति संकट में है। जगह जगह आतंक और विद्रोह फैल रहा है। यदि मैंने अपना खड्ग इस सुन्दरी को धरोहर में न दे दिया होता तो इसी समय तेरा धड़ सिर से उतार कर भागीरथी में फेंक देता।"

भटराज की वह महामूर्ख की सी बात सुन कर जन समूह में से एक हास्य ध्वनि फूट निकली, परन्तु वह स्वयं अपनी मूर्खता से पूर्णतया से अनभिज्ञ थे और वह उसी भाँति बोलते रहे, "यदि अपने अंगरक्षक-सैनिकों को आज मैंने भांग पीने और पेट भर भोजन करने तथा जी भर कर सोने की अनुमति दे अकेले ही नगर भ्रमण का संकल्प न किया होता तो तुझे इसी पल बन्दी बना कर बन्दीगृह में भेज देता......... लंपट!"

जन समुह को निःसंदेह एक विनोद की अति मनोरन्जक सामग्री मिल गई थी।

परन्तु इतने में ही धर्मशील ने भटराज को इस भांति एक सज्जन, सुशील भद्र साधु की भत्सर्ना करते देख, उन्हें ललकारते हुए कहा, "चुप रह कायर कहीं के ! यदि तुझ में तनिक भी साहस है तो आ हस्थ रूप मानव मैं तुझ से द्वन्द युद्ध करने को तयैयार हूँ।"

एक मृदँगवादक के मुख से ऐसी कड़ी बात सुनते ही सब लोग भय मिश्रित संकोच से स्तब्ध रह गए। भटराज भी अपना अनादर सहन न कर सके। कड़क कर बोले, "भाग जा चाण्डाल ! तू तो भटराज के समक्ष खड़ा होने के भी योग्य नहीं है। तुझे विदित होना चाहिए इस समय सुन्दरियों को छोड़ कर हम किसी भी पुरुष को स्पर्श करने को तैयार नहीं।" यह बात सुनते ही भीड़ पुनः हँसी से लोट पोट हो गई। सब को विदित हो गया भटराज कितने पानी में हैं। परन्तु वह उसी भांति उधम मचाते रहे; "सावधान ! प्रातः होने के पूर्व ही मैं जब सामन्त आदित्य से गुप्त मन्त्रणा करके अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित सेना की टुकड़ी लेकर पुनः इस स्थान पर आऊँगा तब ओ मृदँग बजाने वाले, तेरी करवाल छिनवा कर तुझ से खड्ग-युद्ध करूँगा।"

लोगों ने भांति-भांति की आवाज़ें अपने गलों से निकालनी आरम्भ कीं, जिनसे और भी अधिक उत्तेजित होकर वह चन्द्रिका से बोले।

"नर्तकी, मैं तुम्हें राज आज्ञा देता हूँ कि देखना, यह विद्रोही प्रातः काल तक भागने न पाए। इसे अपने ग्रह में बन्दी बनाए रखना। मैं तुम्हें राजकोष से पुरस्कार दिलाऊँगा। इससे भी अनुपम हार पहनाऊँगा।"

भटराज की वह अनोखी बात सुनकर तीव्रतर उल्लास और हास के स्वर सर्वत्र सुनाई देने लगे। भीड़ में से निकल कर एक विदूषक ने अपनी कोमल और बहुत पतली आवाज बना कर कहना शुरू किया,

"अन्नदाता ! यह नर्तकी इस बन्दी को नयनकोर और बाहूपाशों में बांध कर रखेगी। प्रातःकाल तो क्या यह जन्म जन्मांतर तक भी इसके

स्नेह बंधन नहीं तोड़ सकेगा।" बड़े नाट्य ढँग से उसने भटराज के सामने शीश झुकाकर हाथ जोड़ लिए।

भटराज उसकी बात का भावार्थ न समझ कर मूर्खों की तरह पुनः उतावले स्वर में बोल उठे, "नहीं नर्तकी यह बड़ा वाचाल और उदण्ड है। अवश्य भाग जाएगा तू अपनी पाश की गांठें मजबूत बांधना और प्रतिपल सावधान रहना।"

इस बार तो जन समूह में से एक गगन भेदी हास्य ध्वनि फूट निकली और इतनी देर बाद अब भटराज की समझ में आया कि जन-समूह उन्हीं का उपहास कर रहा है।

वह तनक कर अपने सप्तम स्वर में बोलने लगे।

"क्यों हँसते हो, मैं क्या कोई नट हूँ ? अथवा यहाँ कठपुतली का तमाशा हो रहा है ? यदि मेरा शरीर भारी भरकम है और मुटापे के कारण मैं शीघ्रता से चल नहीं सकता तो तुम्हें विदित होना चाहिए कि सामन्त आदित्य ने तुम्हें डराने और प्रभावित करने के लिए ही मुझसे योग्य शरीर के मनुष्य को नगरपाल के पद की सत्ता सौंपी है। मैं कोई तुम्हारे विनोद की सामग्री नहीं हूँ।"

परन्तु अब तक तो कुछ ऐसा समां बँध गया था कि भटराज की हर बात और भाव प्रदर्शन पर जन समूह में से हँसी का एक फव्वारा फूट निकला था।

लोगों को उसी प्रकार निःसंकोच हँसते हुए देख कर भटराज के मन में कुछ भय उत्पन्न होने लगा। अब उन्होंने भीड़ की आंख बचा कर बच निकलना ही श्रेष्ठ समझा, परन्तु वह अपनी सत्ता के गर्व को फिर भी न भूले।

"मैं समझ गया, तुम सभी विद्रोही हो ! मैं तुम्हें राज आज्ञा सुनाता हूँ कि मैं विद्रोह से बहुत घबराता हूँ। एक स्थान पर अधिक लोगों का जमा होना मेरे हृदय में आतँक उत्पन्न करता है। अतः मैं

तुम्हें पुनः आज्ञा देता हूँ कि इसी समय तुम लोग इस स्थान से अपने-अपने घरों को सकुशल लौट जाओ। अन्यथा.........अन्यथा......अन्यथा.........।"

इतने में ही कोई बीच में टपक पड़ा, "अन्यथा क्या होगा महाराज ?"

".........अन्यथा मैं स्वयं ही अपने प्रासाद को सकुशल लौट जाऊँगा। रास्ता छोड़ो ! मैं आज्ञा देता हूँ मेरे मार्ग से हट जाओ।"

भटराज आगे बढ़ गए और उनके साथ-साथ हँसता पुलकता जनसमूह भी। लोग नर्तकी मृदँग और साधु को भूल गए।

१०

★★★

कान्य-कुब्ज सम्राट यशोवर्मन के अनेकों गुप्तचर पनवाड़ी की उस दुकान में गुप्त मन्त्रणा कर रहे थे । उन में से अनेक तो संदेश-वाहक थे, जो संदेश लाए थे कि महाराज की सैनाओं ने मगध पर आक्रमण कर दिया है और उन्हे आशातीत सफलता प्राप्त हुई है । महाराज विजय पर विजय वरण करते हुए पाटलीपुत्र की ओर बढ़ते चले आ रहे थे । यद्यपि अभी तक मगध की सैनाओं से उनका जमकर कहीं भी सामना नहीं हुआ । क्यों कि मगध के सामंत आदित्य काशी में शिवरात्रि के पर्व के बहाने आनन्द मंगल भोग-विलास में रत यशोवर्मन के आक्रमण के संबन्ध में पूर्णतया अनभिज्ञ थे ।

परन्तु इसी बीच धर्मशील और उसके साथियों ने महा आश्चर्य से सुना कि बड़े ज़ोर से तूर्य का नाद समस्त गगन में गूंज उठा, जिसका अर्थ था सैन्य संगठन और उसके थोड़ी ही देर बाद काशी का वह सुन्दर रंग भंग होने लगा । सैंकड़ों सैनिक घुड़सवार सरपट दौड़ते हुए बाजारों में से निकल गए । उनके पीछे युद्ध सज्जा से सजे हुए रथ भी थे । अनेकों हाथी भी पक्ति बाँध कर आगे बढ़ने लगे थे । प्रतीत होता था कि वह युद्ध के लिए तैयार सैना केवल संकेत मात्र की प्रतिक्षा कर रही थी ।

धर्मशील और कुछ अन्य गुप्तचर दुकान के पार्श्व में, इस अकस्मात घटना पर चिंतित हो गुप्तमन्त्रणा करने को छिप गए । शीघ्र से शीघ्र कान्य कुब्ज की सैनाओं को उन्हें संदेश पहुँचाने थे कि मगध की

सत्ता अचेत नहीं है। उसने भी आक्रमण को रोकने के लिए सैना तैयार कर रखी है।

अकस्मात ही नगर में सैनिकों के आने से युद्ध की खबर सर्वत्र फैलने लगी। भयभीत होकर जन साधारण अपने घरों को भागने लगे। व्यापारी व्यापार समेटने लगे। घाट पर नौकाएँ ही नौकाएँ छा गईं। उन पर भी भीड़ के मारे स्थान की कमी होने लगीं। लोग कुछ समय में ही एक दूसरे को लूटने खसोटने लगे। दूसरी ओर सैनिकों के दल नगर में घुसने लगे थे। लगता था मानो बड़ा घमासान युद्ध होने वाला है। बालक बिलखने लगे, अबलाएँ सिसकियाँ भरने लगीं, पुरुष निसहाय कौलाहल मचाने लगे।

× × ×

इन दो तीन घड़ियों में ही चन्द्रिका को लगा मानों न जाने कितने वर्ष व्यतीत हो गए हों। जब उसने शीश उठा कर पुनः बाजार की ओर देखा तो उसका रंग पलट चुका था। सर्वत्र भय आतँक और भगदड़ पड़ी हुई थी। सैनाओं की टुकड़ी कुछ कुछ देर बाद धूल उड़ती हुई पास से निकल जाती थीं।

उसने धीरे से पनवाड़ी से, जो कि अब अपनी दुकान समेटने में लगा हुआ था पूछा, "माधव, क्या वह बौद्ध साधु चला गया ?"

उसने एक बार दुकान के बाहर झांक कर देखा और एक अनमने से स्वर में उत्तर दिया, "नहीं वह तो अभी जहाँ का तहाँ ही बैठा है, मानों पत्थर का हो गया हो ?"

"तब उसे तनिक यहाँ बुला दो !" एक प्रर्थना भरे स्वर में चन्द्रिका बोली।

"मैं दुकान बढ़ा रहा हूँ।" रूखाई से वह बोला।

"केवल एक दो ही बात करूँगी अधिक नहीं।"

पनवाड़ी ने भी अधिक समय चन्द्रिका से निर्थक तर्क में बिताना

ठीक न समझ उस साधु से कहा, "सुनते हो भिक्षुक, तनिक अन्दर आ जाओ। उपकार होगा ?"

"हूँ !" एक चेतना सी लेते हुए वह भिक्षुक बोला, "क्या मुझ से कह रहे हो भाई ?"

"हाँ, हाँ, तुम्हीं से तनिक अन्दर आ जाओ।"

भिक्षुक दुकान के अन्दर चला आया और चन्द्रिका के सामने आ कर खड़ा हो गया।

कुछ देर तक दोनों कुछ भी न बोल सके, हिलडुल भी न सके। मानों दोनों की ही वाणी कहीं खो गई हो और वह उसे पुनः प्राप्त कर ने के लिए प्रयत्न कर रहे हों।

बड़े कष्ट से चन्द्रिका ही पहले कुछ कह पाई, "क्या,अब बैठोगे नहीं, एक बार भी मेरी ओर नहीं देखोगे, इतना रूठ गए हो ? कहाँ कैसे रहे ? हा भगवान कितने निर्बल क्षीण हो गए हो ? इतना कि ना कष्ट झेला है तुमने ?"
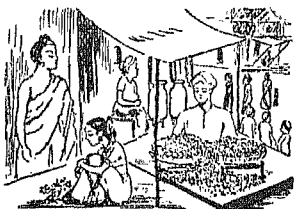
"दूसरों की विकलता और आकुलता का तुम्हे इस भाँति उपहास उड़ाना शोभा नहीं देता। मैं तुम्हें पहचान क भी नहीं पहचानता देवी, तुम्हारी य सहानुभूति बड़ी कौतुहल पूर्ण और विलक्षण लगती है।

यदि यह सब तुम शिष्टाचार वश कह रही हो तो निश्चय मानों मैंने तुम्हे अपने अनुग्रह से मुक्त किया। भगवान तथागत तुम्हारे पाप शान्त करें !"

सत्य की ऐसी विमुखता देख एक घनीभूत वेदना का घूँट भर कर चन्द्रिका बोली, "मैं कृतार्थ हुई साधु। मैंने सोचा था कि तुमने संसार के कल्याण के लिए ही यह काषाय वस्त्र धारण किए हैं, परन्तु एक

अबला के निमित तुम्हारी यह घोर घृणा कहाँ तक उपयुक्त है ?"

"देवी, मोह और घृणा तो एक ही वस्तु के दो रूप हैं। यदि मेरे हृदय से घृणा फूट रही है तो अवश्य मैं मोह में फंस गया था। भगवान तथागत मेरे भी पापों को शान्त करें ! मुझको सद्धर्म का ज्ञान दें !" उसी निर्मम स्वर में सत्य ने उत्तर दिया।

"क्या मेरे लिए भी तुम्हारा यही उपदेश है भिक्षुक ?"

"हर प्राणी के लिए भगवान तथागत का यही उपदेश है देवी !... पपं शांतम्......। तुम्हे शान्ति लाभ हो।" कह कर सत्य ने न जाने कितनी पीड़ा, विकलता और निस्सहायता से अपना मुख फेर लिया। दूसरे क्षण वह दुकान से बाहर निकल आया और काशी के उस सुख दु:ख, हास-विलास, भय और प्रतारणा, युद्ध और नृत्य से भरे संसार से विरक्त हो किसी अज्ञात दिशा को चल पड़ा।

× × ×

११

★

अपनी पर्ण-कुटीर के आगे पाटलीपुत्र के गंगाघाट पर कवि भवभूति सूर्य को अर्ग चढ़ा कर लौट रहे थे कि सत्य को कुटी के समीप ही अर्ध मूछित अवस्था में पड़ा देखकर शीघ्रता से उन्होंने उसे अपनी गोद में उठाकर हृदय से लगा लिया। आर्त कण्ठ से वह बोले, "वत्स कहाँ रहे, इतने विक्षिप्त क्यों हो गए ? तुम तो शिवरात्रि का मेला देखने काशी गए थे ? लो यह जल ग्रहण करो-!" कहते हुए अश्रुपूरित नयनों से कवि ने सत्य को अपनी कांसी की लुटिया में से गंगाजल पिलाया। फिर उसके मलिन मुख पर छाए हुए केशों को सवांरते हुए बोले, "अरे वह तो तुम्हारी मुक्ता मणियों की माला क्याा हुई ? वह तुम्हारे श्रेष्ठि-कुटुम्ब की अन्तिम अमूल्य निशानी थी। तुम साधु होकर भी उसे प्राणों से अधिक मूल्यवान समझते थे । प्रिय सत्य, बताओ तो तुम्हें क्या दस्यओं ने लूट लिया अथवा राजपालों ने सताया है......?"

"महाकवि वह सब कुछ नहीं हुआ । वास्तव में तो मैं अब तक साधु नहीं था, साधुता को जानता तक न था । त्याग वही है कि हम अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का त्याग करें। वह माला मैंने दान करदी । मझे किसी ने नहीं लूटा.।" तनिक स्वस्थ होकर और एक गहरा सांस भर कर वह बोला, "मैंने स्वयं ही अपना सब कुछ लुटा दिया। काशी का वह वीभत्स अनाचार, पाप, व्यभिचार और नास्तिकता यदि तुम एक बार देख पाते तो तुम भी विमुख हो अपना सर्वस्व लुटाने को तत्पर

हो जाते, कवि। सच बोलो, हमारे मन्त्राधर्मों का यह महा अवसान क्या हमारी इस पुण्य भूमि को पूर्णतया रसातल में नहीं मिला देगा ? सोचो कवि, तुम भी सोचो, आखिर इसका निस्तार क्या होगा ? वेदों का सत-कर्म और भगवान तथागत के सद्धर्म सभी कुछ तो उनके अनुयायी भूल गए। ढोंग, पाखण्ड, कर्मकाण्ड और आडम्बर ही सर्वत्र दीखता है। बोलो, प्राणी मात्र का इससे क्या कोई त्राण नहीं ? मुझे मार्ग दिखा दो कवि, मैं अपने प्राण होम करके भी अन्धका मिटा कर इस देव देश में ज्योति की नव किरणों का प्रसार करूँगा.........।" अति आतुरता और क्षीण पीडित स्वर में सत्य कहता चला गया, उसके स्वर में उस काल इतनी वेदना थी मानों समस्त संसार की पीड़ा उसके हृदय में समा गई हो।

उसकी वेदना से पीड़ित होकर भवभूति बोले, "निश्चय ही महा-धर्मों का अवसना हो गया है, प्रिय, संसार के सभी भौतिक पदार्थों की भाँति समय के अनुसार सिद्धांत आदर्श और धर्मों का भी विकास प्रसार और अवसान होता ही है। उनके भौतिक रूप का प्रकृति के अनुसार प्रादुर्भाव, विस्तार और पुरातन होना भी अटल है, चिर निश्चित है।"

"जब सत्य से आलोकित सिद्धांत भी छिन्न भिन्न हो जाते हैं, धर्म और आदर्श कंचन काया के समान ही जरा और मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, तब तो भगवान अर्हताय का वह सत्य आलोक भी सत्य नहीं रहा, और वेदों का नेति नेति ब्रह्म भी ब्रह्म न रहा, कवि श्रेष्ठ। सभी कुछ छिन्न-भिन्न और क्षणभुंगर हो गया और यही क्या अनास्तिकता नहीं है ?" उसी पीड़ा और अशान्ति से कराहते हुए सत्य ने प्रश्न किया।

परन्तु भवभूति अवचलित रहे और पूर्वत अपनी वाणी से अमृत वर्षा करते हुए बोले, "जिस भाँति शरीर के अन्दर प्रतिष्ठित आत्मा

अमर है और शरीर नश्वर, इसी भाँति धर्म में निर्धारित सत्यं, शिवं, सुन्दरं ही अमर है और शेष सभी आयोजन नश्वर, ढोंग, पाखण्ड हैं।"

"तब प्रत्येक धर्म में यह परिधान, पुस्तक, मठ मन्दिर, नियम संयम, तीर्थ, व्रत, चेले चाटों का अयोजन क्यों होता है ? आखिर एक न एक दिन वह सात्विक न रह कर ढोंग हो ही जाता है ?" अपने अन्दर पुन: एक विश्वास का संबल लेते हुए सत्य बोला।

"वत्स ! यह निश्चित है और उसी भाँति निश्चित है जिस भाँति रूप और यौवन के विकास में बुढ़ापा और मृत्यु छपी हुई है। परन्तु साक्षी और प्रतिष्ठा के लिए भौतिक जगत में आत्मा का शरीर धारण आवश्यक है। समयानुकूल जीवन का जन्म, यौवन और अन्त उपयुक्त है, उसी भाँति समयानुकूल मानव समाज में सत्य अपनी प्रतिष्ठा और साक्षी के लिए अनेकों, धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक सिद्धांतों में जन्म लेता है उनका प्रादुर्भाव, प्रसार और अन्त में सत्य विहीन असत्य हो जाना सभी स्वभाविक है। इस जीव की भाँति सत्य भी अनेकों विचारों में अनेकों ढ़ंग से फूटता प्रसारित होता आया है। एक धर्म, आदर्श अथवा सिद्धांत का समय के अनुसार पुराना होना और मिट जाना ठीक ही है। परन्तु अनुयायी समाज निकट संबंधियों की भाँति निश्प्राण शरीर पर आंसू बहाता है, ढोंग और पाखण्ड में फंसा रहता है। उसका मोह और स्वार्थ उसे अन्धा कर देता है। सत्य का अमर प्रकाश, ईश्वर की अनुकम्पा, सभी से वह वंचित रह जाता है।"

सत्य को वास्तव में ही प्रतीत हुआ कि कवि की अनुभूति में सच-मुच ही एक दिव्य प्रकाश छन कर धरा पर अवतरित हो डूबते हुए प्राणी को जो आनन्द किनारे का सहारा मिलने पर होता है, वैसे ही आनन्द से प्रेरित वह पुन: अपनी शिथिलता से स्वस्थ होकर पूछने लगा, "निश्चय ही प्रकृति का यह अटल नियम मैं समझ सका कवि श्रेष्ठ ! परन्तु इस युग में सत्य का क्या रूप होगा, यह कैसे कौन निर्धारित

करेगा ?"

"सत्य स्वयं ही अपने को निर्धारित कर लेगा । मानव के सतत संघर्ष और अनोखे बलिदानों में वह विस्फुटित हो उठेगा। वेदों के निराकार ब्रह्म को लेकर ब्राह्मणों ने कर्मकाण्ड में उसे खो दिया तो तथागत के सत्कर्म के सिद्धांतों में वह पुन: जीवित हो उठा । परन्तु आज वह ब्रह्म और सत्य दोनों ही लोप हो गए हैं । वह निराकार, तप, तर्क, दम्भ और अहँकार में विलीन और अदृश्य हो गया है । अब इस युग में आवश्यकता है उसे दृश्य बनाने की, मूर्तिमान और पुन: जन साधारण के समक्ष प्रतिष्ठित करने की । जिससे कि वह केवल बौद्धिक न रह कर भावात्मक भी हो जाए ।" गंगा की भांति कवि की वाणी शाश्वत हो बहती चली जा रही थी और नयनों में नवीन से नवीनतम प्रकाश फूट रहा था ।

एक आनन्द विभोर स्वर में सत्य ने कवि को रोक कर कहा, "तभी तुमने उत्तर रामचरित्र में इतनी घनीभूत करूणा को प्रवाह दिया है । प्रेम और भक्ति के अमर काव्य को जन्म दिया है, उस ब्रह्म और सत्य दोनों को ही प्रतीक रूप दिया है, वास्तव में तुम धन्य हो कवि !"

"वत्स वही अमर आनन्द तो मैं तुम्हारी शिल्प कला और मूर्तियों में पा रहा हूँ । तुमने पुरुष के हृदय की अधिष्ठात्रि नारी को अनुपम मुद्रा और सौंदर्य प्रदान किया है । निश्चय ही यह कला अमर बनी रहेगी ।"

कवि की बात सुनते ही सत्य के हृदय में भूली हुई वेदना पुन: जाग्रित हो उठी वह एक विव्हल कण्ठ से बोल उठा, "न कवि मेरी यों मुँह देखी प्रशंसा न करो । वह तो केवल मेरे मन की उच्छ्खल्ता मात्र है । नारी से मैं अब सदा के लिए विमुख हो चुका हूँ ।"

भवभूति के मुख पर एक रहस्यमयी मुस्कान खेल उठी, "तुम्हारे हृदय की यह प्यास विरक्त साधु की नहीं एक प्रेम-योगी की

है.......।"

न जाने क्यों सत्य की आँखों से टपटप करके आँसू टपक पड़े उस का कण्ठ रुंध गया और वह एक घायल मृग की सी दृष्टि से कवि को निहारने लगा।

भवभूति कहने लगे, "इतना संकोच क्यों वत्स? क्या संसार में प्रेम भी उतना ही श्रेष्ठ नहीं है जितनी की विरक्ति? आज के इस देश-काल और समाज के सभी दोषों की जड़ है समाज में प्रेम का आभाव। निर्वाण के लिए पुरुष और नारी का एक दूसरे से विमुख हो जाना ही अनाचार और व्यभिचार का कारण है। हमें नव-समाज में प्रेम और भक्ति को प्रतिष्ठित करना होगा। मानव में केवल कठोरता और बौद्धिकता ही नहीं अपितु उसके हृदय में प्रेम और कोमलता को भी जन्म देना होगा। केवल साधु ही समाज का कल्याण नहीं कर सकते, न नर्तकी उसे संतोष दे सकती है। उसे चाहिए नर-नारी के सात्विक प्रेम का संजीवन।"

मुग्ध होकर सत्य कवि की वाणी सुनता रहा। मन ही मन उसकी प्रेममयी आत्मा ने उस महान विभूति के आगे अपना शीश झुका लिया।

× × ×

१२

***

मगध और कान्य कुब्ज की सैनाओं में घमासान युद्ध आरम्भ हो गया था । परन्तु सम्राट यशोवर्मन की सैनाएँ मगध में दावानल के समान आगे ही आगे बढ़ती आ रहीं थीं । दिन प्रति दिन काशी में युद्ध के नए नए समाचार आते थे जिन में कान्य-कुब्ज के सैनिकों के पराक्रम और मगध की सैनाओं की पराजय की कहानियाँ होती थीं । उन में से अनेकों तो जनता में आतँक फैलाने के लिए गुप्तचर इधर उधर फैला रहे थे । मगध की राज सत्ता को कान्य-कुब्ज के गुप्तचर दीमक की भाँति अन्दर ही अन्दर खोखला कर चुके थे। लोग यशोवर्मन को महाराज धिराज हर्षवर्धन के समान ही शक्तिशाली समझते थे ।

परन्तु युद्ध की भीषणता भी काल भैरव के मन्दिर का आनन्द मंगल न भंग कर सकी । उत्सव की मनुहार जों की त्यों बनी रही। मांस, भंग, मदिरा का भोग और घोष्ठी-देवदासियों का मदन तरंगों से भरा नृत्य पूर्वत चलता रहा । सामन्त आदित्य शिव-पूजन, मदपान और भोग में डूबे हुए थे। प्रातः काल रथ-यात्रा का आयोजन था।

देव-रथ की साज सज्जा एक आद्वितीय थी । साधुओं के दल एकत्रित थे । देवदासियाँ देवता और रथ को सजाने में रत थीं।

मन्दिर के अन्तःपुर में भूमि गर्भ एक कक्ष था जिसका द्वार गोपनीय था ।

"चन्द्रिका !" सहसा एक कठोर स्वर उस भू-गर्भ में गूंज उठा । अस्तव्यस्त वस्त्र, बिखरे बाल, क्लांत वन्दनी और विव्हल वह वहाँ बैठी थी । उस कठोर स्वर ने उसे चौंका दिया । उसने देखा अंधकार सी भीषण मूर्ति, प्रधान पुजारी त्रिपुरारी उपस्थित है ।

"अपने पापों पर पश्चाताप किया तुमने ?"

"कौन सा पश्चाताप ?" घृणा से कठोर दृष्टिपात करते हुए चन्द्रिका बोली ।

"धर्म द्रोह और अविश्वास का ।"

"अथवा तुम्हारे अनाचार और पाप का ।" तत्क्षण ही चन्द्रिका ने उत्तर दिया । महाकाल के प्रधान पुजारी ने अपने दांत किटकिटा लिए ।

"वाचाल तुझे अपनेपाप का पराश्चित करनाही होगा । कल संध्या के पूजन के पूर्व ही तुझे अपना शरीर देवता को समर्पित करना होगा ?"

"चुप रहो नर पिचाश ! मिट्टी के देवता मेरे शरीर का क्या करेंगे ?"

"एक अकिंचन मानव की इतनी सामर्थ की देवता का अपमान करे ? प्रातःकाल तुझे देवता के रथ पर दासी के रूप में आरूढ़ होना पड़ेगा और सन्ध्या को भैरवी के रूप में उसका पूजन करना होगा अन्यथा तुझे मृत्युदण्ड मिलेगा ।"

"नीच, पामर ! तेरा यह धर्म शासन मेरे बलिदान के साथ-साथ ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा । जान ले धर्म केवल निस्सहाय और अकिंचन मानव के कल्याण के लिए है । राज और समाज मानव जीवन की व्यवस्था के लिए हैं । सभ्यता केवल मानव की सुरक्षा के लिए है । जिस धर्म में जन साधरण का कल्याण नहीं वह मिट जाएगा । जिस राज्य में जन साधारण के प्रति न्याय नहीं वह उलट जाएगा । जिस समाज में जन साधारण की सुरक्षा नहीं वह कुचल जाएगा । नगर में

सर्वत्र ध्वंस विप्लव और विद्रोह की आग लग रही है। वज्रयानी और कपालिकों के मठ और मन्दिर तथा यह निर्बल राजसत्ता दोनों ही जल कर भस्म हो रहे हैं। अब समय आ गया है जब काल चक्र इस महिमामय के उन्नत शिखर रसातल को पहुँचा देगा। जब परिवर्तन इस सब को मिटा कर नव निर्माण करेगा। यह प्रकृति का अटल नियम पुनः शाश्वत होगा..........." चन्द्रिका आवेश में कहती चली गई। परन्तु प्रधान पुजारी की वह काली छाया कहीं अदृश्य हो गई।

× × ×

अरूण रथ पर आरूढ़ हो कर सूर्य गगन पथ पर आए उधर असंख्य जनता ने तुमुलनाद से गगन गुंजार दिया। देवरथ राजपथ पर अग्रसर हुआ। उसके आगे आगे अवधूत और पुजारियों का अपार समुह चल पड़ा। भैंरवी, देवदासी, किशोरी और सुन्दरियों की पंक्तियों के बीच देवरथ का चक्र घूम रहा था, जिसके ऊपर फूलों से ढ़की, युगुल उरोजों पर केवल एक पारदर्शक रेशमी बसँती परिधान बांधे चन्द्रिका बैठी थी। उस समय वह नव विकसित यौवन के अध खिले परिजात ऐसे लगते थे मानों रूप कमल की कलियों पर रस के लोभी भँवरे मधु पान कर रहे हों। भुजँग काले घुँघराले केश आजानु एक काले पारावार से लहरा रहे थे। जिनमें पिरोए हुए फूल ऐसे बसे हुए थे मानों सागर पर अमावस्या की गहन काली रजनी अपने लाखों नक्षत्रों के सँग उतर आई हो। काजल भरे विशाल नयनों में भूलोक की समस्त माया और छलना सिमट रही थी।

नर्तकी का वह अनुपम सिंगार, रूप और त्याग देखने को देवरथ के नीचे जनता कुचलने को आतुर हो रही थी। सँसार का समस्त सौन्दर्य मानो देवरथ पर आसीन हो गया था।

देखते ही पार्वती का हृदय धक से रह गया उसने सामँत का उत्तरीय पकड़ लिया, "यह क्या, सामँत तुम्हारी कुटिलता यहाँ तक बढ़

गई ? तुमने मेरी पुत्री को भैरवी बनाने का उपक्रम कैसे किया ? उसे मेरे गृह से कौन निकाल कर लाया ? बोलो, नहीं तो मैं यहीं प्राण दे दूँगो ।"

सामंत खिलखिला कर हँस पड़े, "नर्तकी धर्म कर्म में हम विवश हैं। तुम्हारी पुत्री स्वेच्छा से जो चाहे कर सकती है। तुम्हें उसके लिए अपने हृदय में इतना मोह बंधन नहीं रखना चाहिए। प्रधान पुजारी ने उसकी इस सम्बन्ध में अनुमति लेली है। उसकी धर्म स्वतन्त्रता का हम सामंत होकर कैसे हनन कर सकते हैं ?......

"अरे हाँ नर्तकी पार्वती एक बात और है। हमें अब तुम्हारी राज-भक्ति में सन्देह होने लगा है। तुमने जिस कान्यकुब्ज के गप्तचर को अपने प्रासाद में बन्दी बनाया था उसे नगरपाल को सौंपने की बजाय मुक्त कर दिया है। यह सब ठीक नहीं हुआ। हम शीघ्र ही पाटलीपुत्र लौट रहे हैं और वहीं हम तम्हारे सम्बन्ध में भी कुछ निर्णय करेंगे ।"

कहकर सामंत पार्वती को जहां का तहां मूर्तिवत अवाक छोड़कर अपना उत्तरीय छुड़ा स्वर्ण रथ पर आसीन हो रथयात्रा में सम्मिलित हो गए।

पार्वती के नयनों के आगे से वह रथ-यात्रा निकल गई जन साधा-रण की भीड़ में फँसी अचेतन सी वह उसके सँग-संग आगे बढ़ने लगी। अचानक एक ओर से घोड़ों के दौड़ने की टापें सुनाई दीं।

"सम्राट यशोवर्मन की जय हो ! कान्यकुब्ज सम्राट की जय हो।" एक गगन भेदी स्वर सुनाई दिया। जन साधारण सब भयभीत हो उठे। इतने में अनेकों घोड़े एक साथ रथ-यात्रियों पर कूद पड़े।" "आक्रमण ! आक्रमण ! शत्रु का आक्रमण !!" चिल्लाते हुए जिसका जहाँ मुँह उठा भाग चला।

सामंत का रथ एक दम पवन से बातें करने लगा। कुछ पलों में वहाँ केवल देव-रथ और उस पर आसीन मृत्यु को गले लगाने के लिए

चन्द्रिका ही देवता की रक्षा को रह गई।

उसी पल बिजली से भी तीव्र गती से दौड़ता और उन नर-पशुओं को कुचलता हुआ धर्मशील का घोड़ा देव-रथ के समक्ष आ खड़ा हुआ।

"शीघ्रता करो देवी! आओ सन्ध्या से पूर्व ही हमें काशी से कहीं दूर निकल जाना है।" दूसरे ही क्षण गोद में उठा उस वीर ने चन्द्रिका को घोड़े पर बिठा लिया। घोड़ा अपनी निश्चित दिशा पर सरपट दौड़ पड़ा।

× × ×

"अपने प्राणों पर खेल कर दूसरी बार तुमने मेरे प्राण बचाए हैं, तुम में महान साहस है वीर।"

"नहीं देवी। मैं तो केवल तुम्हारा एक अनुचर, एक बन्दी मात्र हूँ। कहीं देखना अपने पाश ढीले न छोड़ देना कि मैं मुक्त हो जाऊँ।"

अपने भव्य प्रासाद के द्वार पर खड़ी हुई चन्द्रिका धर्मशील की बात

सुनते ही लजा गई । परन्तु तुरंत ही वह नटखटता से भरे स्वर में बोली, "चलो तो प्रासाद में तुम्हारी इस कुटिलता का तुम्हें अवश्य दण्ड मिलेगा।"

दोनों की मधुर हँसी ने सोए हुए प्रासाद के कर्मचारियों को जगा दिया। रात्रि के दूसरे पहर में वह प्रासाद पुनः जगमगा उठा।

१३

★★★

शिवरात्रि के पूजन के बाद नर्तकी पार्वती सामंत आदित्य के साथ पाटलीपुत्र लौट आईं । परन्तु उस अल्प समय में ही पाटलीपुत्र का रंग बदल चुका था । युद्ध के आतंक ने उसकी समस्त श्री और स्मृद्धि लूट ली थी । पराजय की जो छाया उस पर पड़ रही थी वह दिन प्रति दिन गहन होती जा रही थी और उस पर कुशासन का कठोर अत्याचार और भी बढ़ता जा रहा था । दूर दूर के नगर ग्रामों से खदेड़ी हुई जनता भयातुर, भूखी प्यासी निराश्रित पाटलीपुत्र के परकोट के नीचे इकट्ठी होती जा रही थी ।

दुर्भिक्ष पड़ गया था । "अन्न ! अन्न !" चिल्लाते स्त्री और बालक राज पथ पर घूमते थे । यहाँ तक कि चलते चलते ही बहुतेरों के प्राण पंखेरू उड़ जाते । इधर उधर मुर्दों के ढ़ेर लगने लगे थे । रात रात भर रोगियों की कराहट से गगन भर जाता था । लोग एक दूसरे को लूटने खसोटने लगे थे और साथ ही साथ उन पर सैनिकों के कठोर अत्याचार भी हो रहे थे । वह बिना किसी संकोच के लोगों के गृहों में घुस जाते और मनमानी करते थे । धन धान्य लूट लेना और स्त्रियों का अपहरण उनकी दिनचर्या थी ।

दु:ख और पीड़ा से लोग पागल से हो उठे थे । दिन प्रति दिन स्वजन बिछुडते जाते थे । यातनाओं का अन्त नहीं दीखता था । बालक और अबलाओं का आर्तनाद हृदय फाड़े डालता था ।

सावन भादों के घनघोर वर्षा के दिन आ गए थे । वर्षा का लगातार झड़ी लगी हुई थी । गंगा में बाढ आ गई थी । सभी ओर मृत्यु देह धर कर घूमती हुई जान पड़ती थी ।

लोगों के हृदयों में से दया, धर्म, और ईश्वर पर विश्वास उठता जा रहा था । समर्थ निर्बल को खा रहा था। परन्तु इस दारूण दुःख और जीवन की प्रत्यक्ष असारता के समक्ष भी कुछ मानव रास, रंग, और मदिरा में मस्त थे ।

चन्द्रिका को सकुशल प्रासाद में देख कर पार्वती को महान आश्चर्य हुआ और उससे भी अधिक आश्चर्य उसे मुक्ता मणियों का वह हार देख कर हुआ जो सत्य ने चन्द्रिका को दिया था । उसे अपने श्रेष्ठी कुटुम्ब और वर्षों से खोए हुए भतीजे की याद आई और वह उससे एक बार मिलने को विकल हो उठी । इधर सामंत की कूटनीति छल और कपट से उसे घृणा हो गई थी । वह अब पूर्ण रूप से उनसे बदला लेने पर तुल गई थी । उसने धर्मशील से राजनीति का गठ बन्धन जोड़ लिया था ।

पार्वती की योजना के अनुसार धर्मशील भेष बदल कर एक बड़े श्रेष्ठि की भाँति पाटलीपुत्र में रहने लगा था । यह भेद चन्द्रिका और पार्वती के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जानता था । उसके यहाँ नित रंगीन रजनियाँ मनाई जातीं थी जिसमें बड़े बड़े राजपाल और मन्त्री आमन्त्रित होते थे और शठयन्त्र रचते थे ।

सामन्त आदित्य चितातुर और अस्वस्थ होते जा रहे थे । वह अपने राज प्रासाद से अब अधिक बाहर नहीं आते थे । परन्तु युद्ध जारी था । मानो वह अनिवार्य हो । यहाँ तक कि एक दिन कान्यकुब्ज के सैनिक पाटलीपुत्र के परकोट तक पहुँच गए नगर में युद्ध के रथों की रेलपेल होने लगी । हाथी सिंह-द्वार पर एकत्रित किए जाने लगे और धनुधारी परकोट पर चढ़ाए गए । सैंकड़ों व्यक्तियों ने केवल

रथों के चक्रों, घोड़ों की टापों तथा बिगड़ी हुई हथनियों के पैरों के नीचे कुचल कर ही अपनें प्राण गवा दिए ।

नगर में घुटनों तक कीचड़ जमा हो गई थी । सड़ांद और कूड़े कचरे का पारावार न रहा था ।

उस भीषण रौरव नरक में एक समधुर कण्ठ के धीमे-धीमे राग से कभी-कभी एक अमृत वर्षा सी हो जाती । न जाने कैसा अजीब उसमें आकर्षण था कि जिस कोने से भी वह सँकीर्तन गूँज उठता ठठ के ठठ लोग उसी ही ओर चल पड़ते थे। आर्तनाद और चीतकार को चीरता हुआ एक जन-कण्ठ, "भक्ति और प्रेम की जय हो ! जन कल्याण और सर्व मंगल हो !" सुनाई देता था ।

गहन रजनी के तीसरे पहर में कहीं-कहीं कुछ अलकाएँ जगमगा उठती थीं, दुःखी, कातर, घायल, बीमार और आश्रयहीनों का एक जन समूह उसी ओर को उमड़ पड़ता । वहाँ क्षीणकाय, मृदुल-अङ्ग सौम्य मूर्ति और मधुर कण्ठ वाला एक साधु लोगों के उपचार में लगा हुआ दीख पड़ता । दुःखी और दीनों के बीच खड़ा होकर अपने क्षीण स्वर में उत्तरीय फैला कर जब वह कहने लगता, "देश पर अभाव, दुःख और निराशा की जो एक गहन रजनी छा रही है उसके स्थान पर बन्धुओं आओ सब मिल कर कल के सुन्दर, सुखी और प्रफुल्लित दिवस का निर्माण करें। मैं कोरी भावनाएँ लेकर ही इस मार्ग पर नहीं उतरा हूँ अपितु जन कल्याण और जन मँगल का आद्वितीय आंदोलन लेकर आया हूँ । इस देश में मँगल और भक्ति आंदोलन विध्वंस, वैमनस्य और युद्ध के विपरीत खड़ा होगा। सत्य, प्रेम और कल्याण के प्रवाहों से प्रवाहित आंदोलन सर्वप्रिय बनेगा। हमें प्राणी-प्राणी के हृदय से एक अमृत का स्रोत निकालना है कि भूतल के प्राणी पुनः द्वेश, क्रोध, घ्रणा और युद्ध की ज्वालाओं से न झुलस सके। परन्तु इस आंदोलन के आयोजन के लिए हमें क्या कुछ न करना होगा ? अपने आंसुओं से जन-जन

के पग धोने होंगे । अपनी हृदय-शक्ति से अवला को शक्तिमान करना होगा। अपने सर्वस्व दान से दीन हीन का पेट भरना होगा। कोढ़ी को भी अपने उत्तरीय में आश्रय देना होगा । महानआदर्शों के महा मार्ग पर बिछ जाना होगा। तुम पूछोगे यह महान कार्य आरम्भ कहाँ से होगा ? तो मैं बताता हूँ कि जग के हीन से हीन प्राणी के चरणों में जब मैं अपने आप को विलीन कर दूंगा, उसी पल और उसी क्षण से इस महा-कार्य का संखनाद आरम्भ होगा । क्या साथ दे सकोगे भाई ? आज बहुत बड़ी भिक्षा तुम्हारे द्वारे मांगने आया हूँ। इस जन मँगल अनुष्ठान के लिए तुम्हारा सर्वस्व और जीवन दान मांगने आया हूँ।"
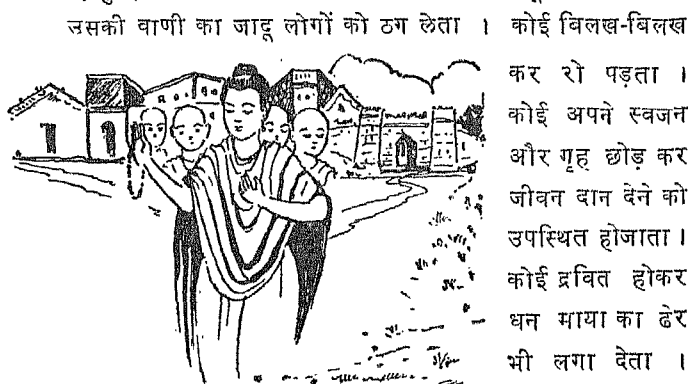
उसकी वाणी का जादू लोगों को ठग लेता । कोई बिलख-बिलख कर रो पड़ता । कोई अपने स्वजन और गृह छोड़ कर जीवन दान देने को उपस्थित होजाता। कोई द्रवित होकर धन माया का ढेर भी लगा देता ।

साधु सब कुछ बांट देता। उपचार में लगा देता और अपना भिक्षा-पात्र लेकर आगे बढ़ जाता। लोगों में सर्वत्र जन मँगल और कल्याण की एक लहर सी दौड़ने लगी थी। परन्तु लोगों का इस भांति सँगठित होना राजसत्ता को सहन न हुआ। क्या यह साधुओं के विद्रोह का एक सक्रिय रूप न था ?

— — —

यद्यपि सर्वत्र अंधकार, पीड़ा, दुःख, क्लेश और अभाव फैला हुआ

था। बाज़ार सब बन्द थे। भुखमरी जनता दो तीन दिन से राजमार्गों पर घूमती फिर रही थी। सैनिकों के आतँक से घबराई हुई इधर-उधर भटक रही थी। परन्तु फिर भी यदा कदा सैना की टुकड़ियों से उसकी मुठभेड़ हो जाती थी। मद पान से उन्मत्त और अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित मगध के हारे हुए सैनिक अब राज्य की रक्षा करना तो दूर गिध चील की भांति उसके घायल शव को नोज-नोच कर खा रहे थे!

आधी से अधिक रात जा चुकी थी परन्तु नर्तकी पार्वती के प्रासाद की दीपिकाएँ नहीं बुझी थी। वह विशेष रूप से सजा था। केले के खम्भो पर कलश धरे थे और उन पर रंग बिरंगी बंदरवार बांधी गई थीं तथा रंग बिरंगी महराब सजी थी जहाँ तहां दीपिकाओं के द्वारा ज्योति के फूल बनाए गए थे। जल-तरँग मृदँग और बांसुरी तथा नृत्य की छुन्न-छुन्न से वह सदन झूम रहा था कि अचानक बाजार में से एक संकीर्तन मण्डली से निकला हुए निनाद प्रतिपल निकट आता हुआ सुनाई देने लगा। प्रासाद में ठहरे हुए अतिथिगण, सैनिक और कर्मचारी द्वार पर आ खड़े हुए। जल से भरे हुए कलश और कांसी की थालियों में सुगन्धियाँ, फूल पत्र तथा आरतियां लिए हुए कंचुकियाँ और दासियाँ हँसतीं कलरव करती हुए बंदरवारों के नीचे झुन्ड बना कर जमा हो गईं।

झरोके से चन्द्रिका ने जब उस कीर्तन मण्डली को देखा तो अपार उल्लास से फूली हुई वह मां से जाकर लिपट गई, "मां, मां! आज न जाने मेरे जीवन का कौन सा पुण्य उदय हुआ है, कि मेरा आंगन कृपा और कल्याण से भर गया है। देखो, देखो! यह कैसा अपूर्व पर्व है? मेरे भाग्य पटल पर पूर्ण चन्द्र उदय हुए हैं वह जन कल्याण के दृष्टा अनुपम मूर्तिकार कुमार सत्य ही इधर चले आ रहे हैं।"

सत्य का नाम सुनते ही पार्वती एकाएक चौंक उठी, "कौन सत्य? दिगम्बर श्रेष्ठि का पुत्र, वह नन्हा सा सत्य मेरे द्वार पर आया है? चल जल्दी अगवानी को अब हम कभी उसे घर से नहीं जाने देंगे।

अपनी सुधबुध बिसराय माँ, बटी अपने अतल धन धान्य और एश्वर्य का संकोच किए बिना ही कंचुकी और दासियों के बीच आ खड़ी हुई ।

पार्वती के गृह द्वार के आगे एक ऊँचा गगनभेदी जयकार उठा, "भक्ति और प्रेम की जय हो। जन कल्याण और सर्वमँगल हो। सब सुखी और सानन्द हो !"

चन्द्रिका उसी क्षण भीड़ को चीरती हुई माया और मोतियों से भरी चांदी की एक थाली सत्य के चरणो में रख कर और उन चरणों को अपने कर कमलो मे बांध कर कहने लगी।

"मेरा प्रणाम स्वीकार करो, भिक्षुराज! यह धन माया हीरक मोती जो कुछ भी मुझे प्राप्त हैं आप पर नौछावर हैं।" भावावेष में चन्द्रिका उन क्षीण दुर्बल चरणों से ऐसे लिपट गई ज्यों वृक्ष से बेल लिपट जाती है।

आश्चर्य चकित होकर जब सत्य ने चन्द्रिका को उस दशा में देखा तो एकाएकी उसके कलेजे से एक हूक निकली और उसके मुख से स्वत: शब्द फूट निकले, "कौन? भिक्षुणीं! नहीं, नहीं, नर्तकी, तुम यहाँ और इस भूषा में! प्रलय के इन क्षणों में भी वासना और विलास में रत! ओह भगवान अमिताभ क्या तुम यह सब कुछ देख रहे हो ?"

परन्त चन्द्रिका ने उसी अवचलित भाव से कहा, "मेरा सर्वस्व तुम्हारा है, फिर इतने विमुख क्यों ?"

सत्य अपने चारों ओर खड़े हुए जनसाधारण का ध्यान करके सचेत हो कहने लगा, "मानव के नवजात सुमन सी नर्तकी तुम? तुम मुझ पर सर्वस्व नौछावर कर रही हो? आश्चर्य? सुन्दरी भगवान तुम्हारा कल्याण करें। उनमें तुम्हारी अचल भक्ति हो! उठो देवी, तुम्हारा जीवन सुखी और सानन्द हो।"

अपने को किसी भाँति संयमित रखते हुए पार्वती तब बोल उठी, "किस दुःख के कारण तुम श्रेष्ठि से साधु हो गए, स्वजनों को यों भूल गए ! चलो एक बार अपने समस्त अनुयायियों के साथ चल कर मेरे गृह को पवित्र कर दो, देव ! मैं कृतार्थ हो जाऊँगी ।"

"मेरे लिए सर्वजन स्वजन हैं, रमणी ! मुझे ऐसा लगता है जैसे मैं जन-कोलाहल में राह भूल गया हूँ । इन राजप्रासादों और राज नर्तकियों से मेरा क्या सम्बन्ध ? मुझे तो दुःखी निरीह और दीनों का निमन्त्रण स्वीकार करना है। उनका आग्रह मैं नहीं ठुकरा सकता ।"

तभी चन्द्रिका ने अश्रु पूरित नयनों से उसे देखते हुए और एक दीर्घ उच्छ्‌वास भरकर धीरे से कहा, "इतने कठोर न बनों ?"

इन चार शब्दों ने सत्य का हृदय चीर कर दो भागों में बाँट दिया, करूण स्वर में उसने उत्तर दिया, "कठोर ? नर्तकी जिसका सर्वस्व स्वाह हो गया हो क्या वह भी श्रीमन्तो से स्पृधा न करे ? जिस का जीवन भर का संचित अमृत बिखर गया हो क्या वह भी तृप्ति का ढोंग न रचे ? जिसके हृदय का समस्त रस खींच लिया गया हो क्या वह भी कठोर न बने ?"

सहसा अनेकों घोड़ो की टापो और अस्त्र शस्त्रो की खनखनाहट का स्वर सुनाई दिया । भीड़ डर के मारे बिखरने लगी। आशँका से लोग सहम से गए । सैनिकों के आगे नगरपाल भटराज चार्वाक थे, उन्होंने एक दम कड़क कर लोगो को अपना कर्कश आदेश देना आरम्भ किया ।

"सुनो ! विद्रोहियो ! अभी इस स्थान को छोड़ कर सब अपने अपने गृहों को लौट जाओ, अन्यथा तुम्हारे देखते ही देखते तुम में से एक एक को बारी बारी से दो दो कर दूंगा ।"

परन्तु इतने में ही सत्य ने एक ऊँचे स्वर में सब उपस्थित लोगों से कहा, "भाईयों सब अपने अपने स्थानों पर खड़े रहो। मैं नगरपाल

भटराज से बात करता हूँ।" फिर भटराज के समक्ष खड़ा हो कर पूछने लगा, "क्यों भटराज, तुम निरीह भगवान के भक्तों को अपने अश्व और शस्त्रों से क्यों डरा रहे हो ?"

भटराज एक साधारण से साधु के मुख से उस प्रश्न को सुनते ही तवे पर पड़े हुए बैंगन के समान भुन्न भुन्नाने लगे, "तुम सब विद्रोही हो। राज सत्ता और राजधर्म दोनों का ही तुमने अपमान किया है। यह 'सानन्द और सुखी हो ! भक्ति और प्रेम की जय हो !' चिल्ला चिल्ला कर तम लोगों में विद्रोह की भावना को भड़काते हो "

परन्तु अति साहस, शान्ति और गम्भीर वाणी में सत्य ने कहा, "नहीं भटराज जनमँगल और भक्ति आन्दोलन तो अहिंसक और अति सरल आंदोलन है। वह न किसी धर्म के विपरीत है और न किसी सत्ता के विरुद्ध। वह तो केवल मानव धर्म है, उसका अर्थ है भगवान की केवल उपासना ही नहीं अपितु उससे प्रेम भी।"

"भगवान के प्रति प्रेम !" भटराज तत्क्षण मुँह चिढ़ा कर बोले,

.........."यदि तुझे भगवान से ऐसा प्रेम है तो तू यहाँ गणिका के द्वार पर खड़ा-खड़ा क्या कर रहा है ? जा किसी देव मन्दिर में बैठ।"

भटराज के क्रोध को कुछ शांत करने का प्रयत्न करते हुए सत्य बोला, "मेरे लिए भटराज, नर्तकी और साधु, राजा और भिखारी, चोर और दानी सभी देव मन्दिर हैं। हर प्राणी में मेरे भगवान हैं। प्राणी मात्र से प्रेम करना। उसके साथ समानता का व्यवहार करना ही मेरा भक्ति आंदोलन है।

"जा इस देश में तेरे जैसे आंदोलन करने वाले बहुतेरे आए और मर गए।" भटराज ने उसी भांति अपने गर्व में उन्मत्त होकर कहा।

तभी किसी ने संदेश दिया, "महाराज पाटलीपुत्र का सिंहद्वार टूट गया। शत्रु सैना नगर में घुस आई है, शीघ्रता कीजिए।"

"शीघ्रता की क्या आवश्कता है मूर्खो ?" स्वयं ही मूर्खो की भाँति हँसते हुए वह बोले, "शत्रु सैना हमारा क्या बाल बाँका कर सकती है ? क्या वह हमें नगरपाल से पद-च्युत कर देगी ? ओहो, ओहो !' बड़े ही भीषण स्वर में उन्होंने हँसना आरम्भ किया।

"बस बन्द करो अपना अरण्य रोदन ! मेरे पास इतनी बुद्धि नहीं की तुम्हारा भाषण समझ सकू ।" वह सत्य को घूरते हुए बोले, "सैनिकों ! खड़े खड़े क्या देख रहे हो प्रहार करो !"

भटराज का आदेश पाते ही सैनिकों ने सर्व प्रथम सत्य पर प्रहार किया। एक करुण चीतकार के सँग वह धराशायी हो गया। उसके साथ जो आर्तनाद जनता में से उठा उसने गगन को भी कँपकपा दिया। जो कोई भी वहाँ खड़ा था उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह प्रहार उसी के हृदय पर हुआ हो।

परन्तु उसी क्षण जनसाधारण में खड़े हुए धर्मशील और उसके साथियों ने सैनिकों के प्रहार का अति तीव्रता से उत्तर देना आरम्भ कर दिया।

आवेश में भरे हुए धर्मशील ने अपने खड्ग की नोक भटराज के सीने पर रख सब को सुना कर कहना आरम्भ किया, "ओ नीच, दुराचारी। बता वह कौन सा धर्म है जिसमें अत्याचार और पाप को प्रोत्साहन दिया है ? बता वह कौन सी सत्ता है जिसमें अस्त्र-शस्त्र विहीन साधु पर आक्रमण करने की आज्ञा है ? ऐसे धर्म और सत्ता दोनों के विपरीत आन्दोलन करना ही मानव धर्म है ! ओ नीच, पामर ! अभी भी कुछ समझा हो तो सावधान हो जा !"

परन्तु भटराज की डर के मारे घिग्घी बन्ध गई थी। उनके मुख से कोई शब्द स्पष्ट रूप से न फूट सका। इतने में ही धर्मशील का खड्ग उनके सीने को छेद कर पार हो गया ! बुरी तरह चीखते हुए वह औंधे मुंह धरती पर आ पड़े।

लोगों के कोलाहल, तलवारों की खनखनाहट, घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिंघाड़, रथों की रेल-पेल सर्वत्र त्राही-त्राही के बीच उठी हुई हर्ष ध्वनि, "महाराज यशोवर्मन की जय हो ! कान्यकुब्ज-सम्राट की जय हो ।" से मगध की राजधानी पाटलीपुत्र एक बार गूंज उठी, आसमान भर गया रक्त से पृथ्वी लाल हो गई ।

घायल रक्त रंजित सत्य को कंचुकियाँ और दासियाँ प्रासाद में ले आईं स्वच्छ और सुन्दर कोमल बिछौने पर उसे लिटा दिया गया । सभी उसके उपचार के सम्भव साधनों का प्रयोग किया जाने लगा ।

चन्द्रिका उस मरणासन शरीर को देख कर बिलख-बिलख कर रोने लगी, कभी-कभी कातर स्वर में कह उठती, "आर्य सत्य ! नहीं,नहीं शिल्पी ! मेरे शिल्पी ! एक बार तो अपने वह स्वप्न से नयन खोलो । तुम्हारी प्रेम प्रतिमा अभी भी अपूर्ण है । वह कला तो अधूरी रह गई है । देखो तुम्हारे दर्शन के बिना वह छबि मुर्झा जाएगी । वह छटा विलीन हो जाएगी । नहीं बोलोगे क्या अब रूठ गए हो, फिर कभी नहीं
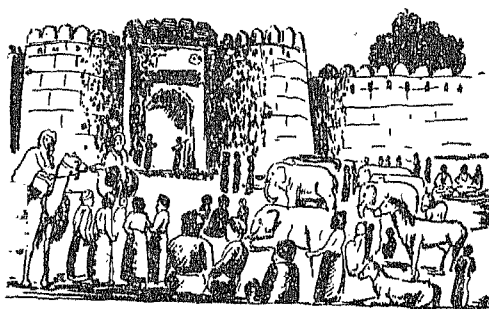
बोलोगे ? भिक्षुणी का यह मौन समर्पण भी नहीं स्वीकार करोगे, साधु !......"

कंचुकियाँ और दासियाँ उसे एक ओर ले जाकर धीरज बंधाने लगीं । प्रासाद की दीपिकाएँ बुझा दी गईं वाद्य ध्वनियाँ शांत हो गईं । एक गम्भीर अभेद शाँति प्रासाद में सर्वत्र छा गई ।

१४

***

गहरे सागर में एक लहर उठती है। किनारे से टकरा कर दुगनी गति से लौटती है और अनेकों अपने जैसी लहरों को जन्म देती है। लहर से महा लहर उत्पन्न होती है। महा लहर से तूफान उठता है। तूफान पुरानी व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। धरातल का जल सागर तल पर आ जाता है और सागर तल का जल धरा से जा लगता है। सब उलट पुलट जाता है। भीषण और भयँकर दीख पड़ता है और फिर समय आता है कि सब शांत और निर्मल हो जाता है। सागर की नई व्यवस्था हो जाती है। परिवर्तन प्रकृति का अटल नियम है। जगत की समस्त विषमताओं में इसी भांति आत्म सुधार का निदेश छुपा है।

कांयकुब्ज के राजा यशोवर्मन ने मगध की शक्ति को नष्ट कर दिया। राज्य सत्ता पाटलीपुत्र से कांयकुब्ज को चली गई। यशोवर्मन एक बड़ा विजयी पुरुष था और काव्य से उसे विशेष प्रेम था। यशोवर्मन ने एक बड़ा शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित कर लिया।

मगध की समय के अनुसार नई राज्य व्यवस्था होने लगी। पाटली-पुत्र में खोई हुई सुख और समृद्धि पुनः लौट-लौट कर आने लगी। वाणि-ज्य और कला दोनों की ही उन्नति आरम्भ हो गई। समय से बढ़ कर दूसरा कोई सृष्टा नहीं है। यह बड़े-बड़े घाव भर देता है। विध्वंस और खण्डहरों को मिटा कर उनकी जगह भव्य सृष्टि कर देता है। सो

पाटलीपुत्र कुछ महीनों में पुनः आनन्द और मंगल से भर गया ।

कवि भवभूति की काव्य रचना पर मुग्ध होकर महाराज ने उन्हें अपने राज दरबार में आश्रय दे दिया था। धर्मशील को पाटलीपुत्र के नगरपाल की सत्ता सौंप दी गई थी । उसके शील ने सर्वत्र उसकी विख्याति फैला दी थी । उसे मनोरंजन और उत्सवों से अधिक प्रेम था ।

यद्यपि अध्ययन और कला कौशल में भी उसका मन अधिक लगता था। परन्तु वह नाटकों का विशेष प्रेमी था। वह स्वयं भी एक अति सुन्दर नृत्य तथा अभिनय करता था । सदा से ही उन्मत्त और स्वच्छन्द उसका जीवन रहा था। इधर युद्ध विजय कर लेने के बाद राज्य में उसका सम्मान बहुत बढ़ गया था। महराज यशोवर्मन की उस पर विशेष कृपा थी ।

नर्तकी पार्वती के प्रासाद में पूर्वत उसका आदर सम्मान, आना जाना बना हुआ था।

सभी कुछ सुखमय और आशाजनक होता जा रहा था । सत्य के जीवन ने भी मृत्यु पर विजय पा ली थी । परन्तु उसके घाव भरे नहीं उनमें असह्य पीड़ा समाई हुई थी । शायद उनसे भी गहरी उसकी मानसिक पीड़ा रही होगी । परन्तु उसका धैर्य, शान्ति और सहनशी-लता अतुल थी। उसका मृत्यु से सँघर्ष अलौकिक था। क्या वह महान सँघर्ष, उसका चन्द्रिका के लिए था ?

चन्द्रिका ने अपने को पूर्ण रूप से सत्य के लिए समर्पित कर दिया था । उसकी सेवा और सुश्रुषा ने उस निर्बल काया में अब तक प्राणों को बांध रखा था।

दिवाकर की प्रथम किरणें कलियों को चूम चूम कर फूल बना रहीं थीं। एक सुखद प्रभात के रूप में धरा पर जीवन का हास-उल्लास जाग्रित हो रहा था।

पार्वती के प्रासाद के कलश और झरोके सब ही स्वर्णिम हो गए थे ।

प्रातः समीर ने ज्योंही आकर सत्य के भाल को चूमा तो उसने एक धीमी सी कराहट के सँग अपने नयन खोल कर देखा, न जाने कब चन्द्रिका उसके वक्ष पर अपना शीश धर कर सो गई थी । वह अत्याधिक श्रम ओर रातों जाग-जाग कर शिथिल और क्लांत हो गई थी । एक गहरी नींद में ऐसे सोई थी मानों किसी मधुर स्वप्न में खोई हो । उस काल उसका गौर वर्ण शरीर तप्त कंचन सा हो गया था सुँदर मुख की लुभावनी आकृति पर खेलता हुआ सौंदर्य विरह में तप कर अलौकिक बन गया था । स्वप्नों के हल्के रँग और दुःख के नन्हें कणों से उसके अधखुले नयन भरे थे । ललाट पर नन्हीं२ बल खाती हुई अलकें और लटें नागिन के समान लहरा रहीं थीं ।

सत्य ने अपने दुर्बल शक्ति हीन हाथ से एक बार उसका वह गर्म गर्म गात स्पर्श किया और इतने में ही वह हांप गया उसके पीले निर्जीव अधरों की दूरी चन्द्रिका के अरूण रस पूर्ण अधरों से यद्यपि बहुत नहीं थी परन्तु फिर भी उसमें वैसी शक्ति नहीं बची थी । यह लालसा ही कितनी भयानक मायावनी एक छलना है ? इतने में ही उसकी आँखों के आगे आंसू का एक अथाह पारावार लहरा उठा, जिसने सौन्दर्य से भरा हुआ वह मधुर स्वप्न डुबो दिया ।

वह अनुभव करनेल गा कि किस काया और यौवन पर मानव इतना अभिमान करता है ? जो समय के साथ, जल में पड़ी हुई मिश्री की डली के समान घुलती जाती है उसके आस्तित्व पर न जाने कितना, ईर्षा, जलन, मोह माया, दम्भ और अभिमान का असीम पहाड़ चिनता है । अकथनिए बोझ अपने अन्तःकरण में लिए फिरता है ।

......सौन्दर्य की इस कली से उसने निज अभिमान में भर कर कितनी बार मुँह फेर लिया, उसे पीडित करने को कितने न मार्मिक

आघात उसने किए। निज परमार्थ और निज स्वार्थ के लिए उसने उसका सर्वस्व समर्पण भी ठुकरा दिया। इस अबोध एक बालिका ने उस से प्रेम करके क्या पाया, —प्रतारणा, कष्ट, वेदना और दुःखों का एक अपार भण्डार ही न ? क्या सच्चे प्रेम का संसार में सर्वोच्च पुरूस्कार यही नहीं है ?

......ऊषा के नवीन तम क्षणों में, उद्यान के एक कोने में नन्हा सा एक पुष्प खिलता है, अपने हृदय की समस्त सुगन्धि बखेर कर उद्यान को सुरभित करने के प्रयास में ही सन्ध्या को मुर्फा कर समाप्त हो जाता है। उसके जीवन में कहीं दुराओ, द्वेश, वैमन्स्य नहीं होता। कितना महान उसका प्रयास होता है ! क्या उसके सार्थक जीवन में पूर्ण निर्वाण नहीं है ?

......एक मणिका क्या सीप के गर्भ में, क्या जौहरी की दुकान में, क्या भिक्षु के दान पात्र में, क्या दुराचारियों के ताज में, क्या वैश्या के गलहार में, जहाँ कहीं भी रहती है, निस्संकोच अपना सौन्दर्य बखेर देती है। उसे निज काया का गर्भ नहीं। संसार के छल और कपट का लेश मात्र भी ध्यान नहीं, क्या वह जीवन मुक्त नहीं ?

...उसी भाँति निश्छल प्रेम के अमृत से परिपूर्ण यह एक बालिका सदा से निश्कपट प्रेम की अनुभूति से अपने नन्हे से संसार को सुरभित करती आई। अपने सौन्दर्य से अनभिज्ञ मणिका की भाँति निश्छल बनी रही। संसार को सुखी सुन्दर प्रेममय बनाने का उसका यह मानवीय प्रयत्न क्या स्वयं ही उसके लिए निर्बाण और शक्ति नहीं है ?

.. ...सरल भोले, प्रेम युक्त मानव के लिए निर्वाण कितना निकट है ? तब भाँति भाँति के परिधान पहन कर, सर्क और वितर्क से बौद्धिक प्रपंच फैला कर, दम्भ और अभिमान से हृदय को कलुषित करके, छल और कपट से माया मोह बटोर कर निर्वाण और मुक्ति के लिए साधु और भिक्षु बनना कितना न विकृत और हास्यप्रद है ? कभी

भी क्या मैं पुष्प की भाँति हृदय खोल कर अपने भावों का सौरभ संसार के निमित बखेर पाया, अथवा मणि की भाँति अपने गुणों का अभिमान छोड़, ऊँच नीच के भेद भाव से रहित होकर, उनका प्रसार कर सका ? क्या कभी भी इस कोमलांगनी की भाँति, सरल निर्मल निःस्वार्थ प्रेम किसी को दे पाया ? फिर जीवन मुक्त होने और निर्वाण पाने की मेरी इच्छा केवल एक मृग मारिचिका ही नहीं ?

क्या अब एक बार पुनः न प्रयत्न करूँ । अपने हृदय का समस्त बल लगा कर भी क्या मैं जीवित रह सकूंगा ? जब तक जीवित हूँ, यह सब स्वजन मेरे हैं । इनका प्रेम मेरा है । इनके प्रेम का सुख स्वर्ग सभी कुछ मेरा है ! कितना सुँदर है मेरा जीवन ! इस नारी के हृदय की ज्योति ने मेरे स्वर्णिम् जीवन के प्रासाद को कैसा जगमगा दिया है ? हम दोनों का सहधर्म कितना न सात्विक होगा ?

तभी द्वार पर किसी के आने की आहट हुई । पार्वती और धर्म-शील दोनों ही उसके संबंध में जानना चाहते थे । परंतु चन्द्रिका को इस भाँति निश्चन्त से सोया हुआ देख कर दोनों को ही एक चोट सी लगी । यद्यपि उनके निकट आने तक चन्द्रिका उठ बैठी थी और अपने दोनों हाथों में मुँह छिपा कर बिलख-बिलख कर रो पड़ी थी ।

धर्मशील ने एक ओजस्वी वाणी में कहा, "चन्द्रिका आज बसन्तोत्सव है । इसीलिए तुम्हें निमन्त्रण देने आया हू ।"

"कुमार सत्य यदि स्वस्थर है तो अवश्य तुम्हारा निमन्त्रण स्वीकार करूँगी महाराज !" अपने को कुछ संयमित करते हुए चन्द्रिका बोली । उसकी वाणी में निश्चय ही धर्मशील के प्रति जो एक आदर की भावना थी वह धर्मशील को अच्छी न लगी ।

एक पीड़ित से स्वर में बोला, "मैं महाराज बनने के योग्य कब से हो गया, क्या इस अनादर की भी कोई सीमा है ?"

इतने दुःख में भी चन्द्रिका अपनी स्वाभाविक मुस्कराहट न भूल

सकी, "पाटलीपुत्र के श्रेष्ठ सर्वप्रिय नगरपाल का अनादर करने को क्या मुझ में क्षमता भी है ?"

न जाने क्यों धर्मशील को चन्द्रिका का, यह उत्तर भी चुभा उसने कुछ बनावटी स्वर में कहा, "पाटलीपुत्र के नगरपाल की पदवी प्रथा के अनुसार महामूर्ख को दी जाती है ।"

धर्मशील की बात पर पार्वती और चन्द्रिका दोनों ही अनायास हँस पड़ीं । परन्तु उसी हँसी के पुट की संग धर्मशील कहता गया, "यद्यपि देवी पार्वती के बन्दीगृह से भागने के उपलक्ष्य में महाराज यशोवर्मन ने मुझे इस नगर की सत्ता सौंप दी है । परन्तु वह यह नहीं जानते कि शरीर से मुक्त होने पर भी मैं वचन और कर्म से कुमारी चन्द्रिका का बंदी हूँ और निश्चय ही आज मुक्तिदान के लिए प्रर्थना करने आया हूँ । क्या प्रार्थना स्वीकार न होगी देवी ?"

पार्वती ने धर्म शील की मन-व्यथा ताड़ ली थी। तुरंत ही चन्द्रिका की ओर से उसने उत्तर बना दिया, "कदापि नहीं । तुम्हारे जैसे नर-सिंह को मुक्ति देकर हमें अपनी जान जोखिम में नहीं डालनी है । अभी कुछ देर यहीं ठहरो मैं तुम्हारे जलपान का प्रबंध करती हूँ । तुम्हारे से चन्द्रिका का मन लगा रहता है । आज युद्ध की मनोरंजक कहानियाँ सुनाना न भूलना, समझे ?"

धर्मशील को शीघ्र ही कोई उत्तर न सूझा इतने में ही चन्द्रिका और पार्वती धर्मशील को कुमार सत्य के निकट छोड़ कर चलती बनीं। चलते-चलते चन्द्रिका कह गई, "जरा इनका ध्यान करना, मैं अभी लौट आती हूँ ।"

१५

**

"भिक्षुराज तुमने महात्याग किया और जीवन में वह अमर पद प्राप्त किया जो सर्व साधारण के लिए दुर्लभ है।"

"नहीं नगरपाल वैसा तो मैंने नहीं किया। हां, जीवन की उपेक्षा अवश्य की है।" धीमे स्वर में सत्य ने धर्मशील के प्रश्न का एक दिन एकान्त पाकर उत्तर दे ही दिया।

"मैं जानता हूँ तुम सच्चे साधु हो सो अपनी विख्याति से डरते हो। तुम्हारी सरलता और सत्य के आगे कौन नहीं झुक जाता ? इस पाप आर अत्याचार के युग में भी तुमने भगवान तथागत के सध्दर्म का पुनः उत्थान कर दिया है।"

"हानि लाभ, जीवन मरण, यश अपयश यह सब तो नियति के वश में हैं। वह मानव से एक कठपुतली की भाँति खेलती है। जिसे जी चाहता है राजमुकुट पहना देती है, जिसे जी चाहता है भिक्षापात्र दे देती है। परन्तु खेल समाप्त हो जाने पर सभी एक कपड़े की गुडिया मात्र ही रह जाते हैं। उनका स्वांग सब कहीं अदृश्य हो जाता है।"

"तुम्हारे ज्ञान और सम्पर्क में निश्चय ही एक अमर शांति है देव। अब अवश्य तुम्हारे सद्धर्म की मैं भी शिक्षा ग्रहण करूँगा।"

एक दीर्ध उच्छवास छोड़ कर भिक्षु ने कहा, "भगवान तथागत तुम्हारा कल्याण करें !" उससे और अधिक कुछ बोला न गया। धर्मशील को भी कुछ देर को वास्तविक शान्ति का अनुभव हुआ।

जो जीवन और उसके उपभोग की एक लालसा अचानक ही सत्य के हृदय में, चन्द्रिका को अपने वःक्ष पर लेटे देख कर जाग उठी थी वह धर्मशील की एक ही याचना ने विलीन कर दी। वह पीडित हृदय से कराह उठता था। "क्या लालसा ही जीवन में समस्त दुःखों की जड़ नहीं है? वह कैसी एक हास्यपद बात थी कि मुझ मरणासन भिक्षु से भी पाटलीपुत्र का नगर पाल, महाराज यशोवर्मन का स्नेही कृपा पात्र धर्मशील याचना करने आए–"भिक्षुराज तुम चन्द्रिका को मेरे प्रेम का संदेश देदो!"

"यद्यपि जीवन में मेरे इस शरीर के अतिरिक्त अपना कहने को कुछ भी नहीं परन्तु उससे क्या? जो मेरा हृदय धन है, उल्लास और आनन्द है, वह भी संसार से क्या सहन हो सका? वह महा सामर्थवान धन धान्य से परिपूर्ण, मेरा ही हृदय छीनने के लिए याचक बन कर आया। वह भी चन्द्रिका से प्रेम करता है। अपनी समस्त भावना और हृदय से उसे प्रेम करता है। भोला प्राणी यह नहीं जानता की प्रेम तो साधु को भी चाहिए। क्या वह मेरे जीवन की समस्त कहानी सुन कर भी यही याचना करेगा? शायद न करे? परन्तु तब उसके हृदय की भी क्या यही दशा न होगी जो मेरी है? क्या, उसे मैं इतना कष्ट दे पाऊँगा? मैं साधु हुआ हूँ कष्ट सहन को, न कि कष्ट देने को? जहाँ तक प्रश्न है चन्द्रिका के हृदय का, हो सकता है आज भावावेश में वह मुझे ही अधिकारी घोषित कर दे। परन्तु उस अधिकार को पाकर मैं उसे क्या दे पाऊँगा,—काषाय परिधान, जीवन के प्रति निरंतर उदासीनता क्षीण दुर्बल काया! क्या इन्ही अपार कष्टों का नाम धर कर उससे कहूँ, यह मेरा प्रेम है, तुम स्वीकार कर लो देवी!

"...जीवन के उपभोग के लिए लालसा ही नहीं अपितु सामर्थ भी चाहिए। सामर्थ के लिए उचित अनुचित का कोई विवेचन ही नहीं.........

तभी अचानक सत्य ने चन्द्रिका की आहट पाई। निर्निमेश उसने अपने पलक खोल कर देखा, चन्द्रिका के साथ आज कोई भिक्षुणी भी थी।

"कुमार सत्य! अब स्वास्थ्य कैसा है?" द्वार से ही एक पुलकित स्वर में चन्द्रिका ने पूछा।

"जीवन का मोह ही सब कष्टों का कारण है। मैं उसकी आशा छोड़ चुका हूँ देवी।"

"पापं शान्तम्! पापं शान्तम्!!" भिक्षणी के मुख से अनायास ही यह उच्चारण, सत्य को देखते ही निकल पड़े।

"यह देवी कौन हैं चन्द्रिका?" सत्य ने एक प्रश्न भरी दृष्टि से उसे देखते हुए पूछा।

"यह मेरे बचपन की सखी अम्बिका है, आर्य! इसे मैंने विहार से बुला भेजा था। आज इतने वर्षों बाद मिलने पर हम जी भर कर रोई हैं।"

"विहार में क्या सब सकुशल हैं?" विस्फुटित स्वरों में सत्य ने पूछा।

"भगवान तथागत की सर्वत्र कृपा है, प्रभू!" अम्बिका ने कहा।

"प्रार्थना करो भिक्षुणी अब वह मुझ पर भी कृपा करें!"

"तुम्हे शान्ति लाभ हो, भिक्षु!" एक भरे हुए कण्ठ से अम्बिका ने कहा।

परन्तु इस दृश्य को चन्द्रिका अधिक सहन न कर पाई। वह फूट फूट कर और बिलख बिलख कर रोने लगी। अम्बिका उसे धीरज बँधाने का प्रयास करती रही।

उसी दिन से ही सद्धर्म का उपदेश पार्वती के प्रासाद में आरम्भ हो गया।

नगर के अधिकतर लोग सत्य के अन्तिम दर्शन करने आते थे।

और साथ साथ शान्ति लाभ के लिए प्रार्थना करते थे। उसी बीच एक दिन चन्द्रिका ने पुन: मठ में प्रवेश करने और भिक्षुणी होने की इच्छा प्रगट की। सत्य ने सुना, मानो उसका हृदय किसी ने कचोट लिया हो। उसे लगा मानों उसके जीवन का समस्त उद्देश्य ही छिन्न भिन्न होने लगा हो।

क्या चन्द्रिका पुन: भिक्षुणी बन जाएगी, और इसी लिए उसने अम्बिका को यहाँ बुलाया है? क्या वह एक निर्बल क्षीण दुर्बल हृदय के एक तुच्छ प्राणी के समान अपने प्राण दे देगा? "नहीं, नहीं, यह सब कुछ नहीं होगा!" एक नव प्रेरणा से प्रेरणित होकर सत्य विचार ने लगा, "दुर्बलताओं का नाम जीवन नहीं है, उनसे सतत संघर्ष ही जीवन है। यदि मुझे प्रेम करना ही होगा तो अब एक प्राणी मात्र से नहीं करूँगा। मोह ममता में फँस कर मैंने अपनी समस्त दिव्य शक्तियों को नष्ट कर दिया है। अवश्य ही मुझे इन सब यातनाओं से ऊँचा उठना है। मुझे अपने को ही नहीं संसार को त्राण देना है। केवल अपने निमित, अपने सुख और दुःख की बात सोचते रहना ही स्वार्थ और पाप है, साधु-धर्म के विपरीत है। उसी क्षण से उसके नयनों में एक नवीन प्रकाश फूटने लगा।

१६

★★★

भगवान तथागत की कृपा से सत्य को स्वास्थ्य लाभ प्राप्त हुआ। वह उठने बैठने और संभाषण करने लगा। उसका उपदेश सुनने के लिए पार्वती के प्रासाद में ही भक्त गण उपस्थित हो जाते थे। दीन दुखियों को उसके उपदेश में निःसंदेह ही आत्मबल मिलता था।

एक दिन संध्या को निकुंज में वायु सेवन करते हुए सत्य ने चन्द्रिका से प्रश्न किया, "क्या पुनः मठ में प्रवेश करने का तुमने अपना निश्चय बदला नहीं ?"

"प्राणी मात्र के कल्याण और शांतिलाभ के लिए जो नियम सध्दर्म में निर्धारित किए गए हैं उन्हें बदलने की क्या मुझमें सामर्थ है ?" चन्द्रिका ने तत्क्षण ही सत्य को उत्तर दे दिया।

"परंतु मैं चाहता हूँ कि तुम लोक धर्म का पालन करो, विवाह कर के सुखी और सम्पन्न हो। यदि सभी प्राणी जीवन की उपेक्षा करने लगेंगे तो एक न एक दिन मानव सभ्यता अवश्य नष्ट हो जाएगी।" एक गम्भीर वाणी में सत्य ने चन्द्रिका को समझाने का प्रयत्न किया।

"क्या उपदेश मात्र दे देने से ही लोग सुखी और सम्पन्न हो जाते हैं ?" चन्द्रिका ने एक चिढ़े हुए से स्वर में उत्तर दिया।

"नहीं सो बात नहीं है।" कुछ उत्तेजित होकर सत्य बोला, "मैंने सब प्रबंध कर लिया है।"

"क्या प्रबंध किया है तुमने, मैं भी तो सुनू ? गृहस्थी बनने से पूर्व,

जरा बताओ तो यह काषाय वस्त्र कहाँ छुपाकर रखोगे ?" कुछ मुस्करा कर चन्द्रिका एक नटखट स्वर में बोली ।

सुनते ही इस बार सत्य उच्चारण कर उठा ! "पापं शांतं ! भगवान तुम्हें सद बुद्धि प्रदान करें !"

"तब क्या तुम्हारा उपदेश केवल प्रचार के लिए है, चरितार्थ करने के लिए नहीं ?"

"सो कैसे देवी ? नगरपाल धर्मशील राजकार्य के लिए कान्यकुब्ज जा रहे हैं। उनके साथ देवी पार्वती भी जाएँगी। तुम भी जाओ। कुछ दिन देशाटन और मनोरंजन में बीत जाएँगे। साथ ही महाराज यशोवर्मन और कवि श्रेष्ठ भवभूति के भी तुम्हें दर्शन हो सकेंगे। मैं उनके नाम तुम्हें संदेश दूंगा। वह अवश्य तुमको उचित सम्मान प्रदान करेंगे। हाँ, एक बात ओर कहता हूँ। धर्मशील, सुन्दर, वीर, धनवान और सुशील युवक है। यद्यपि संकोच के कारण वह अपने मन के भाव तुम्हारे आगे कभी न प्रगट कर पाया, परंतु उसकी ओर से मैं तुम्हें कहता हूँ कि वह तुम्हें प्रेम करता है। तुम उसकी अवहेलना न करना ?"

"अवहेलना !" एक तीखी हँसी हँसते हुए चन्द्रिका ने कहा, "मैंने उनका कान्यकुब्ज की यात्रा का निमंत्रण पहले ही स्वीकार कर लिया है, देव। मेरे साथ अम्बिका भी कान्य कुब्ज जाएगी। केवल आप ही इस बड़े प्रासाद में अकेले रह जाएँगे। कितना अच्छा हो यदि सभी साथ चलें।"

सत्य इस आकस्मिक निमंत्रण के लिए तैयार नहीं था। वह एक बार तो सकपका गया। परंतु शीघ्र ही कुछ सोच कर उसने उत्तर दे दिया, "मेरा स्वास्थ्य अभी इस योग्य नहीं कि इतनी लम्बी यात्रा कर सकूं।"......

"तब तुम्हारे स्वास्थ्य की यहाँ देख रेख कौन करेगा ?"

"मैं समझता हूं, कि इतना स्वस्थ मैं अवश्य हो गया हूँ कि अपने

स्वास्थ्य कि देख रेख आप कर सकूं ।"

इतने में ही देवी पार्वती और धर्मशील का रथ प्रासाद के द्वार पर आकर अचानक रुका और उनके स्वागत के लिए दोनों ही द्वार की ओर चल पड़े ।

धर्मशील ने कहा, "भिक्षुराज मैं सोचता हूं कि आपने चन्द्रिका को कान्यकुब्ज जाने की अनुमति अवश्य देदी होगी । क्योंकि इन दिनों तो यह बिना आपकी अनुमति के एक पग भी घर से बाहर नहीं रखती हैं ।"

इससे पूर्व कि सत्य कोई उत्तर दे पाता । चन्द्रिका बोल उठी, "आर्य सत्य बहुत उदार हैं धर्मशील, शायद तुमने अभी उन्हे पहचाना नहीं है । वह किसी को अपने से बांध कर तो नहीं रखना चाहते । यदि मेरी इच्छा कान्यकुब्ज देखने की है तो वह मुझे कभी नहीं राकेगें । परन्तु मां, हमारे बाद इनकी देख रेख कौन करेगा ?"

"हमारे जाने के बाद इस समस्त प्रासाद का स्वामी सत्य ही होगा । उसे यहाँ कोई कष्ट नहीं हो सकता ।" पार्वती ने स्नेह स्निग्ध स्वर में सत्य की ओर देखते हुए कहा ।

"अवश्य देवी, मुझे यहाँ कोई कष्ट न होगा । एकान्त में अध्यन और अपनी कला का सृजन करने का इस बीच मुझे एक सुन्दर अवसर प्राप्त हो सकेगा ।" पूर्ण रूप से आत्मसंयम रखते हुए सत्य ने कहा ।

सत्य की बात पूरी होते न होते चन्द्रिका भी कहने लगी, "धर्मशील तुम कुछ देर यहीं ठहरो मैं अम्बिका को भी साथ चलने के लिए तैयार करती हूँ । उसके साथ मुझे यात्रा बहुत ही सुखद लगेगी !"

चन्द्रिका पुलकती हुई प्रासाद में चली गई । सबको ही ऐसा प्रतीत हुआ, कि उसमें कोई आकस्मिक परिवंतन आ गया है । उसके भाव परिवर्तन से कौन सुखी, कौन दुःखी हुआ, इसका विवेचन कठिन है । इस संसार में किसी को सुख किसी, को दुःख मिलता ही रहता है ।

प्रातः समीर का झोंका जब लाल फूलों से भरे उद्यान पर से गुजरता है तो उनको गुदगुदाता और हँसाता जाता है। जब वही झोंका किसी रणभूमि पर से बहता है तो घायलों के घावों में असह्य पीड़ा और आँखों में आंसू लहराता चलता है। विधि का विधान ही कुछ ऐसा है।

१७

***

कान्यकुब्ज में विजय का ओज और उल्लास सर्वत्र छाया हुआ था। लोग सुखी और संपन्न दीखते थे। नगर में आमोद-प्रमोद और मनोरञ्जन की एक सबल लहर आई हुई थी। दूर दूर के यात्री भी अब वहाँ मंगल विहार और देशाटन के लिए आते थे। संसार में सफलता से बढ़ कर दूसरा कोई चमत्कार नहीं।

धर्मशील के संग पार्वती, चन्द्रिका, अम्बिका, दास दासियाँ, नावों और रथों पर यात्रा करते हुए एक दिन कान्यकुब्ज पहुँच ही गए। धर्मशील को राज्य की ओर से समस्त सुविधाएँ प्राप्त थीं। अतः यात्रा में उन्हे कोई कष्ट नहीं हुआ। मार्ग में यद्यपि जहाँ तहाँ युद्ध के चिन्ह अभी तक विद्यमान थे, परन्तु लोग अधिकतर राज्य परिवर्तन के बाद प्रसन्न बदन दिखाई देते थे।

चन्द्रिका और अम्बिका दोनों सहेलियों को इस यात्रा में पुनः एक दूसरे के निकट आने का सुअवसर प्राप्त हुआ। कान्यकुब्ज में धर्मशील के सुन्दर प्रासाद में ही देवी पार्वती के संग वह दोनों ठहरीं थी।

चन्द्रिका ने एक दिन अम्बिका को अंक में भर कर कहा, "भोली, अब तू इतनी अनबोली क्यों हो गई है, क्या तुझे मेरे संग आना भाया नहीं?"

"तेरे लिए आना ही क्या प्राण देना भी कभी न अखरेगा। तुझे छोड़ कर मुझ अनाथ का कब कोई था? रही बात बोलने की सो मेरे सूने हृदय में भला सुन्दर भाव ही कहाँ हैं जो तेरा मन बहलाने को नित

नई काव्य रचना कर सकूं।" बड़ी सरलता से अम्बिका ने बात का उत्तर दिया।

सुनकर चन्द्रिका तुरंत बोल उठी, "ओह हो, मेरी सुकुमारी तो अभी पाठशाला में ही पढ़ती है न सो व्याकरण की त्रुटियों से भरी भाषा बोलती है, काव्य रचना क्या जाने ? रही बात हृदय की सो भिक्षुणियों और साधवियों के मन की थाह भला कौन पा सकता है ? अच्छा इस झगड़े को छोड़ कर यह बता कि तुझे धर्मशील का रथ चलाना कैसा लगा ? जोंही वह घोड़ों की रास पकड़ते हैं तो रथ हवा से बातें नहीं करने लगता ?"

धर्मशील एक कुशल सारथी हैं।" बिना किसी भाव प्रदर्शन के सरलता से अम्बिका ने चन्द्रिका के प्रश्न का उत्तर दे दिया।

"सारथी ही कुशल नहीं हैं, उनमें अनेकों गुण हैं। मृदंग वादन में तो उनकी जोड़ी का कोई दूसरा मिलना कठिन है। क्या तूने कभी उनका मृदंग वादन नहीं सुना ?"

"सो वैसा तो मेरा कभी सौभाग्य न हुआ कि उनकी ताल पर अपनी पग पायल की छाप डाल पाती।" चन्द्रिका को एक मीठा उपालम्भ देते हुए अम्बिका बोली।

चन्द्रिका ने विहंस कर उसकी बात सुनी अनसुनी कर दी, "जो देखने में तेरे जैसे सरल भोले होते हैं उनसे तो भगवान ही बचाएँ बिना किसी प्रयत्न के ही वह किसी के भी मन को ठग लेते हैं......।"

चन्द्रिका की बात पूरी न हुई थी कि धर्मशील ने अपने सहज पदार्पण से दोनों सखियों को बिलग कर दिया। उसे देखते ही चन्द्रिका ने अपने मुख पर एक मुस्कान लाते हुए कहा, "इतने दिन हमें कान्यकुब्ज में आए हो गए, परन्तु आर्य, राज काज के मारे आपको तो अवकाश ही नहीं मिलता कि हमारी भी कभी सुध लेलें !"

"सो बात नहीं है चन्द्रिका, स्वयं महाराज यशोवर्मन ने देवी पार्वती

और कुमारी चन्द्रिका, से भेंट करने की इच्छा प्रगट की है । राज्य की ओर से सोमवार के दिन सन्ध्या समय उनके स्वागत में एक प्रतिभोज का आयोजन होगा । यही संदेश देने मैं सेवा में उपस्थित हुआ हूँ । महाराज ने कुमारी चन्द्रिका के नृत्य की महिमा सुनी है सो उसे देखने की हार्दिक इच्छा प्रगट की है । क्या इस संबंध में मैं आपकी अनुमति प्राप्त कर सकता हूँ !" एक अनुचर का अभिनय करते हुए धर्मशील ने विनय भरे स्वर से चन्द्रिका को चिढ़ाने का प्रयत्न किया ।

परन्तु चन्द्रिका ने उसके शील और विनय पर टिप्पणी किए बिना ही बड़ी शान से कहना आरम्भ किया ।

"हम नृत्य प्रदर्शन को प्रस्तुत हैं, यद्यपि पाटलीपुत्र के नगरपाल धर्मशील जी महाराज अपना मृदंग वादन का अलौकिक चमत्कार हमारी सखी अम्बिका को दिखा कर उसका मनोरंजन कर सकें ?"

"देवी, आपकी आज्ञा हमें स्वीकार है ।" धर्मशील ने उत्तर दिया । इतने में ही अम्बिका ने भी धर्मशील के आगे नत मस्तक होकर कहा, "महारज यदि मुझे आपकी कला प्रदर्शन को देखने का सौभाग्य प्राप्त हो सका तो अवश्य कृतार्थ होऊँगी ।"

× × ×

कान्यकुब्ज में धर्मशील, चन्द्रिका, अम्बिका और पार्वती के दिन अमोद प्रमोद तथा रंगरेलियाँ मनाने में हवा की तरह बीतने लगे । पार्वती और धर्मशील का राजमहल में नित आना जाना रहता था । सोमवार के दिन एक प्रतिभोज में सम्राट स्वयं पधारे और धर्मशील के मृदँगवादन और चन्द्रिका के नृत्य पर हृदय से मुग्ध होकर उन्होंने प्रशंसा की । सभासद भी बहुत प्रभावित हुए थे । उन्होंने धर्मशील से प्रस्ताव किया कि वह राज नाट्यशाला में स्वयं महाराज हर्ष द्वारा लिखित नाटक प्रियदर्शिका और रत्नावली का प्रदर्शन करें । इस प्रस्ताव का अनुमोदन महाराज ने भी किया ।

उसी दिन से चन्द्रिका, अम्बिका, धर्मशील तथा पार्वती नाटकों को सफल बनाने के प्रयत्न में सलग्न हो गए। हास-उल्लास के उन विलक्षण क्षणों में संसार के समस्त दुःख कष्ट एकदम ही भूल गए।

धर्मशील कभी-कभी सोचता था कि अम्बिका और चन्द्रिका दोनों में ही सृष्टि ने एक अन्योन्याश्रित सम्बंध पैदा किया है। दोनों ही एक से एक सुन्दर हैं। चन्द्रिका की आकृति नोकिली और चुभनी है जब की अम्बिका का मुख गोल और नयनाभिराम है। एक, बसंत ऋतु में खिली हुई सुंदर स्वच्छ धूप के समान हास और उल्लास से भरी है जबकि दूसरी सावन की बदली के समान भारी, गम्भीर राग और वेदना से भरी हुई है। एक, उसके जीवन के सुमेरू पर हँसती खेलती इठलाती बल-खाती चंचल सरिता के समान उसे पुलका देती है तो दूसरी प्रकृति की सौम्य हरयाली के समान धीरे-धीरे अपनी समस्त निस्तब्धता, शोभा और लावण्य के सहित उसके तन-मन पर अपना अधिकार जमाती जा रही है। नाटकों में अम्बिका का अभिनय पूर्ण सफल रहा था। उसमें भाव-भँगिमाओं का आधिक्य था। उसके मन की एक मौन आंतरिक प्रेम-भावना अभिनय में फूट निकली थी।

नाटकों में अधिकतर नायक का अभिनय धर्मशील और नायिका का अम्बिका ने किया। चन्द्रिका ने उन नाटकों में हास-उल्लास की पुट देकर उन्हें अलौकिक बना दिया।

देवी पार्वती का कान्यकुब्ज से अब वापिस पाटलीपुत्र जाने का मन नहीं था। राजमहल में उन्हें आश्रय मिल गया। शेष जीवन वह वहीं काठ देना चाहती थीं।

परंतु धर्मशील कअवकाश काल समाप्त हो रहा था। महाराज से आज्ञा लेकर वह पाटलीपुत्र लौट जाना चाहता था। यहाँ आकर उसके हृदय में एक अंतरद्वंद आरम्भ हो गया था। हृदय के सम्बंध में वह एक दुर्बल व्यक्ति था और उसमें स्थायित्व की बहुत कमी थी। चन्द्रिका ने

अनेकों बार उसको उपेक्षा और अवहेलना की दृष्टि से देखा था ! परंतु उसमें कभी इतनी शक्ति न रही थी कि वह भी चन्द्रिका की उपेक्षा कर सकता । परंतु इन दिनों जबकि वह सत्य को पाटलीपुत्र में एकाकी छोड़कर उसके सँग चली आई थी तो इस विडम्बना को भी वह न समझ सका था । यथार्थ तो यह है कि मानसिक अंतरद्वंद का तो उसने अपने जीवन काल में कभी विवेचन ही नहीं किया था । वह उसकी शक्ति से बाहर था । क्योंकि इस दृष्टि से तो उसमें अनेकों दोष थे ।

१८

क्या विधना मानव के भाग्य की उसके जन्म से पूर्व ही रचना नहीं कर देती ? क्या उसके अज्ञात निर्देशन निर्धारित मार्ग पर ही मनुष्य को नहीं ले चलते ?

निर्मल आकाश के स्वच्छंद पथ से स्वर्णिम वसन में सिमटती हुई पूर्णिमा अमृत से भरा हुआ चंद्रकलश लिए पृथ्वी पर अवतरित हो रही थी । उसकी स्वर्णिम आभा ने जगजीवन सभी स्वर्ण मंडित कर दिया था । प्रकृति पुलकित और प्रसन्नवदन थिरक रही थी । मस्त पवन सुगंध और संगीत बखेरता घूम रहा था ।

चन्द्रिका भवभूति के आश्रम में कवि के श्रीमुख से मालती-माधव की काव्य रचना सुन रही थी । कवि ने भौतिक संसार में ही अनुभूति का एक सुन्दर स्वप्न रच दिया था । वह अपनी सुधबुध खोकर काव्य-श्रवण में इतनी तल्लीन हो गई थी कि उसने निश्चय कर लिया था कि वह कुछ दिन आश्रम में ही निवास करेगी ।

रजनी के उस स्वर्गिक प्रथम पहर में देवी पार्वती भी रंगमहल के मंगल गायन में रानियों और कंचुकियों के सँग रमी हुई थीं । हास-परिहास आनंद मंगल से पुलकती हुई नारियाँ, आँखमिचौली और रंग-गुलाल खेलती हुई राजप्रासाद में किलोल कर रही थीं ।

केवल संध्या सी उदास नीरव अम्बिका धर्मशील के प्रासाद में रह गई थी । उसके मन में आज कैसे अजीब-अजीब भाव उठ रहे थे कि न

उसे पुलकते न सिहरते बनता था । रह-रह कर आनंद की एक सुखद लहर से उसका सारा गात फड़क उठता था दूसरे ही क्षण वह न जाने किस आंतरिक भार से दबी जाती थी । कभी उसका मन करता था कि वह पवन बन कर सारे नभ में फैल जाए तो कभी उसके हृदय से ऐसी दर्द भरी हूक उठती कि उसका सारा अन्तःकरण ऐंठ कर रह जाता था और जहाँ की तहाँ वह शिथिल और स्थिर सी रह जाती थी ।

यह एक कैसी नव अनुभूति वह आज अपने अन्दर अनुभव कर रही थी ? जिसका स्वाद शायद उसने पूर्व न लिया था । यौवन के विकास में जो एक अल्हड़पन है आज वह अनबोली भोली भिक्षुकी अपने परिधान में उसे न छुपा सकी । कुछ क्षणों को परिधान उसे चुभने लगा। उसका मन नियम संयम बंधन तोड़कर प्रकृत रूप लेने लगा ।

वह प्रासाद के उद्यान में घूम रही थी । उसके मनोवेगों की गति कम होने के विपरीत और भी तीव्र हो गई तो वह उस निकुंज के एक सुनसान कोने में एकाकी सीधी लेट, आकाश के पूर्ण चन्द्र की आरती में अपने मन के प्रिय स्वप्न देखने लगी ।

उसे कुछ भी ध्यान न रहा कि एक मीठी नींद ने कब उसे अलसा दिया ? उसके परिधान कहाँ और किधर बिखर गए ? उनमें से उस का अछूता पवित्र सौन्दर्य कैसे विस्फुटित होने लगा, जिस के आगे स्वर्ग की अप्सरा सी पूर्णिमा भी लजाने लगी :

× × ×

वह पृथ्वी अथवा स्वर्ग, सत्य था अथवा स्वप्न, कुछ पलों तक तो अम्बिका कुछ भी निर्णय न कर पाई । कब और कैसे किसी ने उस के कोमल गात को उठाकर इतनी सावधानी से अपने अंक में लिटा लिया कि उसकी नींद भी न टूट सकी। क्या कभी वह इतनी बेसुध सोती है ? उन गर्म अधरों के स्पर्श में कैसा आसव था कि उसके अंग-प्रत्यँगों में बिजली दौड़ गई । साथ ही वह टूटे फूटे स्वर उसके

कानों के समीप धीमे-धीमे गूंज उठे, "मेरी कुचेष्ठा को क्षमा करदो देवी, मैं पापी निराधम और एक दुर्बल मनुष्य हूँ । मुझे अपने हृदय का सम्बल देकर सबल करदो ।"

"कौन आर्य आप ! कब आए ? और आने की सूचना भी नहीं दी ।" अम्बिका ने अपने को धर्मशील के अंक में पा एक चेतना लेते हुए कहा ।

"देवी तुम्हारे सौंदर्य में आज इतना निमंत्रण, इतना आकर्षण था कि मैं स्वयं ही खिंचा चला आया । सूचना देने की मुझमें सामर्थ न रही ।"

"देव आपने मुझे पथभ्रष्ट करने का इतना दुस्साहस क्यों किया ? क्या वास्तव में आप मुझे छल नहीं रहे हैं ?"

"देवी, तुम नारी नहीं, कल्याणी हो, गंगा की धारा के समान युगों से तुम पुरुष की दुर्बलताओं दुश्चेष्टाओं तथा दुस्साहस को सहन करके उसको अपने पावन प्रेमामृत से धर्म और कर्तव्य के लिए सुदृढ़ बनाती आई हो । एक आश्रय हीन को क्या सहारा न दोगी ? अपनी करूणा की धारा से मेरे पाप न धो दोगी ?"

"आर्य सचमुच ही क्या तुम नारी के प्रेम के प्रति इतने आतुर बने रहे और किसी के भी आगे अपना हृदय नहीं खोला ?"

"आज से पूर्व मैं संकोच करता रहा था। प्रासाद के एकान्त में आज तुम्हें पाकर प्रथम बार इतना साहस कर सका ।"

"क्या देवी पार्वती और चन्द्रिका दोनों ही अब तक प्रासाद में लौट कर नहीं आईं ?"

"नहीं ! कुमारी चन्द्रिका ने संदेश दिया है कि कुछ दिन वह कवि भवभूति के आश्रम में ही रहेंगी । महाराज ने मुझे कल ही पाटलीपुत्र लौट जाने की आज्ञा दी है ! देवी हम दोनों सहधर्मी बन कर क्या सुखी नहीं रह सकेंगे ? एकाएकी नाटकों के अभिनय की

पृष्टभूमि में मैंने तुम्हारे प्रेम की परिभाषा पढ़ी और समझी । आज उसी पर एक महा काव्य की सृष्टि करने चला हूँ । क्या मेरे स्वप्न सत्य न होंगे ?"

"चन्द्रिका क्या सोचेगी, और देवी पार्वती इस सम्बंध में क्या न कहेंगी ? आपके चंचल हृदय ने मुझे कहीं का न छोड़ा आर्य ?" अपना मुख दोनों हाथों में छुपाकर वह लज्जा से अरुण हो गई ।

"मुझ में सदा से संकोच रहा, कायरता कभी नहीं । तुम्हारा कोई भी निरादर न कर सकेगा तुम सदा मेरे हृदय की सम्राज्ञी बनी रहोगी ।" कहते-कहते वास्तव में ही धर्मशील अपने वीरोचित गर्व से फूल उठा, "कल प्रातःकाल ही हम कवि भवभूति के आश्रम पर देवी-चन्द्रिका के दर्शन करेंगे और साथ ही कवि का आर्शीवाद भी लेंगे। उस के उपरांत महाराज की अनुमति लेकर संध्या को ही हम पाटलीपुत्र को प्रस्थान कर देंगे ।"

उसी समय पार्वती का रथ द्वार पर आकर रुका जिसकी आहट पाते ही अम्यिका, देवी के स्वागत को उठ कर भाग गई । परन्तु धर्मशील जहां का तहाँ बैठा हुआ अनेकों स्वप्न संजोता रहा । क्या वह कभी यह जान पाया कि प्रीत की राह सभी के लिए फूल बाग नहीं, कुछ के लिए बीहड़, कटीली सुनसान एक पगडण्डी भी है, निरंतर साधना और अमिट अभिशाप भी है ।

१६

***

कवि भवभूति के आश्रम में ऊषा कालीन वेद-मन्त्रों का गायन उठ रहा था। बसन्त की सुन्दर ऋतु थी। वृक्षों पर से पक्षियों का सत्वर गान और कलियों पर भौरों का गुँजन एक सुखद प्रभात का संदेश दे रहे थे।

एक मृग छौने के साथ चन्द्रिका खेल रही थी। उसकी खिलखिलाती हुई हँसी अविरल बहती ही जा रही थी।

"परोत्पीड़े तड़ागस्य परीवाहः प्रति क्रिया।
शोक क्षोभे च हृदयं प्रलापैरव धार्यते।"

श्लोक गुनगुनाते हुए खड़ाऊँ की पग ध्वनि के संग कवि भवभूति भी चन्द्रिका के समीप पहुँच कर कहने लगे, "शुभे! तेरे हृदय से यह कलकल करता हुआ आनन्द स्त्रोत बहता देख इस आश्रम में आज नव बसंत सा छाया हुआ प्रतीत होता है।"

"इन मंगल घड़ियों में हम दो अकिंचन मानवों का प्रणाम भी स्वीकार करें कवि श्रेष्ट!" धर्मशील ने अम्बिका के सहित वृक्षों के झुरमुट की आड में से निकल कर कवि के समीप पहुँचते हुए कहा।

"कौन?" कवि ने मुड़ कर देखा और प्रसन्नता से दोनों का स्वागत करते हुए बोले, "पाटलीपुत्र के नगरपाल धर्मशील आओ, तुमने स्वयं मेरी पर्णकुटीर में पधार कर मुझे अनुगृहीत किया......।"

कवि की बात पूरी भी न हुई कि धर्मशील एकदम कहने लगा,

"नहीं, नहीं, मुझे नगरपाल न कहो कवि, मैं तो आश्रम में एक याचक बन कर आया हूँ। इस देवी की अनुकम्पा से यहाँ का सौन्दर्य निरखने को, शान्ति विश्राम लेने को, काव्य श्रवण को, प्रेम जीवन को मिला है......।"

"ओह् अब समझा। नटखट चन्द्रिका तू ने अपनी सखी अम्बिका के पाणिग्रहण का मुझे आभास तक न लेने दिया। तेरी इस नटखटता में ही तो भगवान ने जीवन का समस्त आनन्द उद्दीप्त कर दिया है।" प्रसन्नता से भरे स्वर में कवि ने कहा।

चन्द्रिका अपने मृग छौने को गोद में लिए कोमल कोमल दूब खिला रही थी। अचानक कवि से एक दार्शनिक प्रश्न कर बैठी, "देखो गुरूदेव, यह मृग छौना भी तो कैसा नटखट है? एक नट की भांति कैसे करतब दिखा रहा है? इसके इस अनन्त आनन्द का स्त्रोत कहाँ है?"

उस प्रश्न को सुनकर कवि ने बड़ी शान्ति से उत्तर देना आरम्भ किया, "समस्त दिव्य प्रेरणाओं का स्त्रोत यह भौतिक जगत ही है चन्द्रिका। भौतिकता की उपेक्षा निसर्ग का अपमान है। जिसे हम चेतन का पवित्र निवास मानते हैं, वह हमारे भीतर नहीं बाहर ही है। वह हमारे चारों ओर बिखरी निपट भौतिकता ही है।'

उत्तर सुनते ही सरल सहज भाव से अम्बिका ने पूछा, "तब अधर्म क्या है, आर्य!"

"जग और जीवन की उपेक्षा।" तुरन्त ही कवि ने उत्तर दिया, "जो भौतिकता की मांगों को नहीं सुनते। सामने खड़े आह्वान को नहीं देखते। बल्कि आंख कान बन्द करके मन के भीतर सत्य का दर्शन किया करते हैं। उनकी बात मत सुनो, वह धर्म तो केवल प्रकाश और अमृत विहीन एक रिक्त कलश मात्र है।"

इस सुअवर पर धर्मशील भी अपने को न रोक सका और उसने भी

कवि से प्रश्न किया, "तो गुरूदेव वह अविनाशी सत्य कहां है ?"

कवि ने एक क्षण विचार करके कहा, "वत्स, अविनाशी सत्य इस विनाशी भौतिकता में ही अनुप्राणित है । क्षण क्षण में जो रोती और हँसती है, क्षण क्षण में जो बनती और मिटती है, जो क्रान्ति और शान्ति है, वह भौतिकता ही परम सत्य की खान है ।"

तनिक उत्तेजित होकर चन्द्रिका ने पुन: कवि से पूछा, "अच्छा तो फिर ईश्वर क्या है, कवि ?"

मुस्कराते हुए कवि ने कहा, "इस सुन्दर ऋतु के विकास में, मृग-छौने के प्रामोद में, तेरे सौन्दर्य नर्तन में, धर्मशील और अम्बिका के स्वाभाविक प्रेम मिलन में, मेरी काव्य रचना में, यहाँ, वहाँ सर्वत्र जो कुछ है ईश्वर ही है ।"

"तुम्हारी कीर्ति सूर्य किरणों के संग समस्त अवनितल पर प्रसारित होगी । अब तक जो मूक प्रश्न अम्बिका और मेरे हृदय के बीच एक भित्ति बनकर खड़े थे तुमने उनका कितनी सरलता से समाधान कर दिया । प्रतीत होता है जैसे पृथ्वी पर नव जीवन पुलक उठा हो ।" धर्मशील बोला !

अम्बिका और धर्मशील दोनों ने ही ही हाथ जोड़कर कवि के समक्ष आदर सहित शीश झुका लिया, "मैं कृतार्थ हुई गुरूदेव, मुझे आशीर्वाद दो ।" अम्बिका मधुर स्वर में बोली ।

"कवि ने दोनों को आशीष देते हुए कहा, "आज तुम दोनों को प्रेम बंधन में बंधे देख, चर चराचर आनन्द विभोर हो रहे हैं । तुम दोनों का जीवन सुखमय हो ! इस देव देश में चिर मंगल हो !"

इतने में ही अनुचर ने संदेश दिया कि देवी पार्वती के सँग स्वयं महाराज यशोवर्मन आश्रम में पधारने वाले हैं ।

उस दिन धर्मशील और अम्बिका के शुभ विवाह के उपलक्ष्य में आश्रम में सर्वत्र अतिथि सत्कार उत्सव और मंगल छाया रहा । परन्तु

सुख के साथ दुःख काया से छाया के समान अभिन्न है। जहाँ सबको अम्बिका और धर्मशील के पाणिग्रहण का हर्ष था वहीं उनके शीघ्र ही बिछुड़ जाने का शोक भी। महाराज की विशेष अनुमति से धर्मशील केवल दो दिन कान्यकुब्ज में और ठहर सका।

× × ×

कान्यकुब्ज के गंगा तट पर एक बड़ा जल सार्थ पाटलीपुत्र के लिए प्रस्थान करने को तैयार खड़ा था। सौ से अधिक भाँति भाँति की छोटी और विशाल नौकाएँ जिनमें से कुछ तो वास्तव में लकड़ी के काम की अनुपम कलाकृतियाँ थीं पंक्तियों में खड़ी थीं। उन पर भाँति भाँति का अन्न और अन्य जीवन उपयोगी सामान लदा था। श्रेष्ठि और उनके कर्मचारियों की अपार भीड़ रात्रि के अन्तिम पहर से ही वहाँ जमा हो गई थी।

सूर्य की प्रथम किरण के संग ही महाराज यशोवर्मन के स्वर्ण रथ के घोड़ों के पैरों में बंधे घुँघरूओं की झुन झुन सुनाई दी। सारा वातावरण एक ही साथ महाराज की जयजयकार से गूँज उठा। महाराज के साथ कवि भवभूति भी थे और उनके रथ के पीछे देवी पार्वती का रथ भी था। महाराज स्वयं ही उस महा जलसार्थ को शुभ बिदा देने आए थे। उनके संकेत पर गगन भेदी संखनाद हुआ और सार्थ गंगा की प्रबल धारा में आगे बढ़ने लगा।

धर्मशील की नौका हंस के आकार की बनी हुई थी। जिसका धवल रंग दूर से ही चमकता था। उसे मालाओं और रंग बिरंगे वस्त्रों के चीर से सजाया गया था। धर्मशील और अम्बिका दोनों ने ही सुन्दर कौशेय वस्त्र पहने थे, जो दूर से चमक रहे थे।

परन्तु महा आश्चर्य से सबने देखा कि उनके साथ ही चन्द्रिका भी नौका में थी। उसने पुनः काषाय वस्त्र धारण कर लिए थे। बालों का जूड़ा सिर पर बाँध कर उन में रूद्राक्ष की माला बाँध ली थी।

एक सात्विक सौम्य निर्मलता में वह लिपटी हुई उस राजसी ठाठ से सजी हुई नौका में अति विलक्षण लगती थी ।

सभी के मुँह पर मूक प्रश्न था, "क्या नर्तकी चन्द्रिका भिक्षुणी हो गई ? कौन सी वह गहन निराशा है कि जिस के कारण उसने संसार त्याग दिया अथवा वह निर्वाण की कौनसी अकस्मिक अलौकिक आशा से वशीभूत हो गई ! क्या वास्तव में ही उसने सुख वैभव और स्वजनों से मुँह मोड़ लिया ? क्या कान्य-कुब्ज फिर उसका वह मद भरा नृत्य न देख पाएगा ? क्या बिलखती हुई मां पार्वती भी विवश होकर उससे विदा ले लेगी ?......

महाराज भी उसे आशीष देकर एक ओर हट जाएँगे परन्तु उसका निर्णय न बदल सकेंगे ? यहाँ तक कि महा कवि भवभूति भी किकर्त-व्यविमूढ़ खड़े जनसाधारण की भाँति ही उसका प्रस्थान देखते रहेंगे ? जन समूह ने यह सब कुछ देखकर भी एकाऐकी अपनी आँखों पर विश्वास न किया । देखते देखते घड़ी भर में ही सभी नौकाओं की पतवार दूर क्षितिज में विलीन हो गई । परिवर्तन ने समय के नाटक का एक सुखद अंक समाप्त कर दिया । सभी कुछ, क्या राग, क्या वैराग अतीत में कहीं अदृश्य हो गया ?

११

***

धर्मशील के पाणिग्रहण की बात पाटलीपुत्र भी पहुँची। नगर-पाल के शुभ स्वागत के लिए नगर में तैयारियाँ होने लगीं। परन्तु जो समाचार पाटलीपुत्र पहुँचे वह सब अधूरे थे। धर्मशील का विवाह किस के साथ हुआ यह कोई ठीक से न बता सका। यहाँ तक कि जो समाचार सत्य को मिला उसमें भी यह स्पष्ट नहीं किया गया। शायद कारण वश वह गोपनीय ही रखा गया हो।

परन्तु समाचार पाते ही सत्य ने एक गहरी सांस ली। उसने अपने आप से अनेकों प्रश्न किए: धर्मशील का विवाह अवश्य चन्द्रिका से ही हुआ होगा, ऐसी उसकी स्वभाविक धारणा बन गई थी। क्या यह उसके और संसार के लिए उपयुक्त नहीं है? शिवं नहीं है?

त्याग में असीम शांति है। क्या उसमें इतनी ही शक्ति नहीं जितनी शांति है? पिछले कुछ दिनों के एकांतवास में, जीवन के सुनसान क्षणों के अथाह सागर को मथ कर उसने अमृत-कलश ढूंढा है। आज उसी नवजीवन के आधारभूत पर वह अपने भिक्षु जीवन का भविष्य निर्माण करेगा। उसकी विनयशील, उदारता, समदृष्टि और स्वार्थों का त्याग, छल-प्रपंचों से भरा हुआ नहीं अपितु उसका समस्त जीवन तथागत के समान ही एकनिष्ठ, आराधना और अनन्य प्रार्थना बन गया है।

बौद्ध-संघ की ओर से उसे संसार में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए शीघ्र से शीघ्र स्वदेश छोड़ देने की अनुमति मिल गई। पाटली-

पुत्र से कौशाम्बी और कोशाम्बी से बौद्धगया तथा उसके उपरांत एकदिन बंगाल की खाड़ी से होता हुआ वह स्वदेश से पूर्ववर्ती दूर देशों को कहीं चला जाएगा । जहाँ न कोई वस्तु अपनी होगी न स्वजन अपने होंगे, न धरणी अपनी न आकाश अपना होगा, न स्वदेश की भाषा ही अपनी कोई समझने वाला होगा, केवल अपना कहने को यह काषाय परिधान और हृदय में तथागत का अमर ज्ञान होगा ।

तब वह किस आशा से अब तक पाटलीपुत्र में बैठा है ? क्या चन्द्रिका से मिलने की उत्कण्ठा अभी भी उसके हृदय में घर किए नहीं बैठी है ? लालसा के नन्हे से बीज के गर्भ में दुःख और विकार का कितना ना बड़ा विष-वृक्ष छुपा है ? यह प्रतीक्षा उसके हृदय की कम-जोरी है । कर्तव्य के पथ पर उसे शीघ्र ही अग्रसर होना चाहिए, आज ही और अभी ।

पाटलीपुत्र का वह भिक्षुराज उसी रात के दूसरे पहर कौशाम्बी की ओर चल पड़ा ।

× × ×

कृष्णपक्ष की रजनी का तीसरा पहर था । नव उदित चन्द्रमा गंगा की पावन शीतल लहरों में जलविहार कर रहे थे । धर्मशील का जल सार्थ पाटलीपुत्र के निकट पहुँच गया था । नौकाओं में बड़े-बड़े दीपक दीप्त थे । वह संगीत और मांझियों के गान से भरी हुई थीं । उस काल वह बड़ा नौकाओं का सार्थ इस भांति गंगा में तैरता जा रहा था मानों कोई सौंदर्य नगरी जल पर तैरती जा रही हो । छोटे-छोटे गृह प्रकाश से जगमगा रहे हों, सुख और समृद्धि से भरे हों । युद्ध के वीभत्स विध्वंस के सामने शांति का नव निर्माण नव विकास और नव सृजन का अनुपम रूप कितना न लावण्यमय होता है ?

चन्द्रिका अपने जल विहान की एक अट्टालिका पर बैठी हुई प्रकृति का सुन्दर सिंगार देख रही थी । उसके नयनों से नींद उड़ गई थी ।

बहते हुए सार्थ की सौंदर्य नगरी की अनुपम छवि उसके नयनों के आग एक स्वर्ग लोक की रचना कर रही थी। भगवान की सृष्टि कैसी अनुपम है, इस सृष्टि में मानवता की रचना कैसी मोहन है और मानवता में प्राण और बुद्धि का समिश्रण कितना मोहक है, उससे भी अधिक महान है मानव का अपना आत्म जगत, प्रेम घृणा, विरह-मिलन, क्षोभ-चिंता, आशा-निराशा, स्वप्न और सत्य से निर्मित उसकी अनुभूति की सृष्टि।

भोर होने तक यह सुन्दर जल सार्थ पाटलीपुत्र के तट से जा लगेगा उसके चरणों में अपना अतुल धन-धान्य बखेर देगा। गंगा की अनुपम सभ्यता का श्रेष्ठतम नगर सुख सपनों से भर जाएगा। विकास और निर्माण की नई-नई योजनाएँ कार्यान्वित होंगी। पुरुषों में ओज और ललनाओं में लावण्य उद्दीप्त हो उठेगा। आकाश सुमधुर ध्वनियों से और धरणी मंगल उत्सवों से भर जाएगी। षोडशी के समान ही सभ्यता नव-नव शृंगारों से अपने लावण्य को सजाएगी। पुलकते हुए बालक विहँसती हुई ललनाएँ और मचलते हुए युवकगण गंगातट, राजपथ और भव्य प्रासादों की अट्टालिकाओं पर दृष्टिगोचर होंगे। क्या धरती का यह समस्त नवीनतम उल्लास और विहार भी उसे आनन्दित न कर सकेगा? उसका अपना एक गृह हो, जहाँ वह स्वामिनी हो, अपना एक पुरुष हो जिसकी कि वह ही एक प्रेमिका हो, उसके अपने दास-दासियां हों जिन पर औरों का अधिकार न हो, उसकी इस संकुचित भावना को वह सुन्दर, मोहक समष्टि जीवन नष्ट न कर सकेगा, क्या वह अपनत्व का त्याग न कर सकेगी?

अचानक ही उसके नयनों के आगे सत्य की मौन, सौम्य, क्षीण भिक्षुक की आकृति आ खड़ी हुई। मानों वह सन्यासी युगों से अपनी समाधि लगाए उसकी प्रतीक्षा कर रहा हो। उसके मुख पर मौन प्रश्न अंकित हो। मानो वह कह रहा हो, "चन्द्रिका क्या यह प्रकृति, संस्कृति

ओर सभ्यता सब मानव के लिए ही नहीं हैं ? क्या उसके सहज निश छल प्रेम में ही प्रतिबिम्बित नहीं है ? अभिमान, दुराव, द्वेष, प्रपंच आदि विकारों के गहनतम घन भी क्या प्रेम की निर्मल सुन्दर, किरणों के समक्ष ठहर सकेंगे ? फिर वह कौन सा न दम्भ है, जिसके कारण तुम समीप होने पर भी कोसों दूर हो ? सब कुछ पाकर भी वियोगन हो ? बिछुड़ कर भी नहीं बिछुड़ पाती हो । यदि आत्माओं के इस सहज बंधनों का ही नाम प्रेम है । यदि त्याग से ही हमने एक दूसरे को वरण किया है, तब संसार का वह कौन सा विश्वास है जो हमें विलग कर देगा ? देवी हृदय से ही हृदय को पहचान होगी । नयनों की मौन भाषा नयन ही पढ़ सकेंगे ।

चन्द्रिका न जाने कितनी आशा और प्रतिआशा में डूबती और तैरती रही, प्राची में दिव्य प्रकाश के समान किरणें फूटने लगीं। धीमे धीमे सार्थ ने पाटलीपुत्र के तट की चरण रज मस्तिष्क से लगाई। नगरपाल धर्मशील के जयकार की तुमुल ध्वनि से आकाश गूँज उठा। असंख्य लोग सार्थ के स्वागत को और उस आकर्षक दृश्य को देखने के लिए उपस्थित थे। परन्तु भिक्षुणी चन्द्रिका के नयन प्यासे ही भटकते रह गए। सभी लोग आए परन्तु वह भिक्षुराज नहीं आए। "आह, भगवान ने उन्हें इतना अभिमान क्यों दिया है ?" वह मन ही मन बोल उठी। उसके नयनों से अविरल जलधारा बह निकली। उसके मौन प्रश्नों का शायद उस जन रव के पास कोई समाधान नहीं था । उसके आंसुओं का कोई उत्तर नहीं था।

विवश हो चन्द्रिका ने मां के प्रासाद में ही एक बार सत्य से मिलने का निश्चय किया । जो अपेक्षित नहीं, उन्हीं सब घटनाओं का एक पुलंदा मात्र ही न जीवन है ?

१२

नालंदा और बौद्ध गया होता हुआ, दिन रात जलथल की यात्रा करता, बौद्ध भिक्षुकों का एक दल बंग-सागर तक पहुँच गया जहाँ से उनकी संसार यात्रा आरम्भ होती थी। उनके वस्त्र पीत वर्ण थे और सिर मुण्डित। हाथ में एक भिक्षा पात्र धरा था और पैरों में काष्ठ की पादुकाएँ थीं। मुखमण्डल तेजोमय थे और उनमें उज्ज्वल दृष्टि थी जिससे दया, उदारता और विचार शीलता टपक रही थी। सब से आगे एक युवक था, जिसका गात अदभुत कोमल था। उसने अपने हाथ में एक सुन्दर कलश ले रखा था जिस में बोधि-वृक्ष की एक टहनी रखी थी। भिक्षुयों के हाथ में भूर्ज-पत्र पर लिखित ग्रन्थ थे।

सागर तट से एक विशाल तरणी बंधी थी जिसमें खाद्य पदार्थों से भरे कुछ कलश रखे थे और वस्त्र से उनके मुख बंधे हुए थे। सर्व प्रथम उस युवक भिक्षु ने बट-वृक्ष की शाखा का कलश लेकर तरणी में पदार्पण किया और फिर उसके पीछे एक एक कर के अन्य सभी भिक्षु चढ़ गए। पहले भिक्षु ने कलश को उपयुक्त स्थान पर स्थापित कर दिया और सुदूर वसुँधरा पर अच्छादित कुहरे और अंधकार पर प्राची से फूटते हुए प्रकाश की ओर सम्मोहन दृष्टिपात करने लगा। वह दृष्टि से परे किसी विशेष गम्भीर और विवेचनीय दृश्य को देख रहा था। सउका मुख समुद्र-तीर की उस हरी-भरी-विस्तिर्त वसुन्धरा की ओर था जिसके ऊपर उदय होते हुए सूर्य को वह स्थिर होकर देख रहा था।

कभी कभी उसके हृदय से एक लम्बी श्वास निकलती और उसके होंठ फड़क उठते ।

उस वातावरण की गहन निःस्तब्धता को भंग करते हुए एक दूसरे भिक्षु ने उसे तनिक टोका, "भिक्षुवर, क्या किसी की प्रतीक्षा है ?"

"नहीं बन्धु, किसी की नहीं, केवल स्वदेश को मन ही मन सदैव के लिए प्रणाम कर रहा था, नौका को बन्धन मुक्त कर दो ।" हाथ से संकेत करते हुए उसने कहा और दूसरे ही क्षण नौका जल में तनिक डोल उठी ।

"दूसरे भिक्षु ने कहा तनिक ठहरो बंधु, क्या तुम्हें रथ की आहट नहीं सुनाई दे रही है ?"

"यह तो काल चक्र है बन्धु इसकी आहट तो सदा सुनाई देती रहेगी, हमें तो अपने पथ पर अग्रसर होना है, रुकना नहीं, लौटना नहीं, तब प्रतीक्षा कैसी ?"

परन्तु इतने में ही एक द्रुत गति से दौड़ता हुआ रथ स्पष्ट दीखने लगा जो उन्ही की ओर आ रहा था । पल भर भी न बीता होगा कि वह उनके समक्ष आ खड़ा हुआ ।

"भिक्षुराज सत्य की जय हो !" कहते हुए धर्मशील और अम्बिका रथ से उतर पड़े, "बन्धु तनिक ठहरो हमारा अन्तिम प्रणाम तो स्वीकार करते जाओ !"

"शान्ति लाभ हो, नगरपाल !" एक उल्लसित स्वर में भिक्षु ने नौका में से कहा ।

"भिक्षुराज, मैं भी तुम्हारे सद्धर्म की सहधर्मणी हूँ । मुझे पीछे छोड़ कर तुम कहाँ जाओगे ? मुझे भी साथ ले चलने की आज्ञा प्रदान करो, देव ।" एक सुमधुर कण्ठ में रथ से उतरते हुए चन्द्रिका ने कहा ।

"आर्या चन्द्रिका, तुम्हें किसी मोह ममता में बंध कर भिक्षुसंघ

म प्रविष्ठ नहीं होना होगा।" एक निर्भीक स्वर में सत्य ने उसका भिक्षुणी-भेष देख कर कहा, "तुम्हें प्रतिज्ञा करनी होगी कि काषाय की पवित्रता को कभी दूषित न होने दोगी। अपने हृदय के समस्त प्रेम को अब तुम निःस्वार्थ रूप में उन लोगों के लिए दान करोगी जो दुःख में मग्न अबोध संसारी हैं। तथागत की आज्ञा के अनुसार उन पर अगाध करूणा करनी चाहिए।"

"भिक्षुराज मुझे आपका सहधर्म स्वीकार है। जो तथागत की ज्ञान गरिमा से अपरिचित हैं वह सब ही मेरे बन्धु और स्वजन होंगें। हम उन्हें विश्व प्रेम का आदेश देंगे। उन्हें अक्षय प्रकाश और अमर शान्ति का सन्देश देंगे! मैं आपके महामार्ग का कण्टक नहीं फूल बनूंगी, सदा एक नवीन प्रेरणा बन कर रहूँगी।"

तरणी क्षितिज में विलीन हो गई। तट पर खड़े हुए धर्मशील और अम्बिका देर तक सत्य और चन्द्रिका का विदेश गमन देखते रहे।
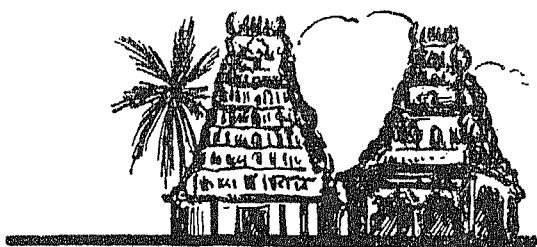
उनके त्याग का आलोक सूर्य के संग समस्त धरणी पर प्रसारित होता हुआ दीख रहा था।

आठवीं शताब्दी में जावा में एक क्रान्ति हुई । शैलेन्द्र राजाओं के शासन-काल में जावा ने कला में महती उन्नति की। चंडी कलसन और चंडी बाराबडर आदि स्थानों पर भारतीय नमूनों के आधार पर सुन्दर बौद्ध मन्दिर तथा स्तूप बनाए गए । बाराबडर का स्तूप संसार के स्तूपों में अद्‌भुत है । शैलेन्द्रों के समय में जब की जावा में बौद्ध धर्म की उन्नति हुई, भारत में सर्वत्र उसका बहिष्कार हो चुका था ।